यहां यह प्रश्न अवश्य उठता है कि काव्य के प्रथम तीन सर्ग केवल भूमिका में लगा देना और कार्य action का आरंभ न करना कहां तक उचित है? कार्य का आरंभ चतुर्थ सर्ग में होता है जब अशोकपत्नी तिष्यरक्षिता सपत्नी-पुत्र 'कुणाल' से प्रेम का प्रस्ताव करती है। शंका होती है कि इसके पूर्व के परिच्छेद और उनका संपूर्ण समारंभ; इस खंडकाव्य के कथानक को देखते हुए, कहां तक खप सकते हैं?

इनकी सार्थकता के सम्बन्ध में ऊपर जो कुछ कहा गया, उससे यदि पूरा समाधान नहीं होता तो हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि प्रबन्धकाव्य में और विशेषतः ऐतिहासिक प्रबन्धों में तत्कालीन वातावरण का चित्रण और नायक की जीवनी का आलेख भी अपना अलग महत्त्व रखते हैं, जो काव्य के मुख्य कार्यव्यापार से संबद्ध न होते हुए भी निरे निरर्थक नहीं हो जाते। अलंकरण में उनका उपयोग हो जाता है।

पांचवें सर्ग में प्रेमप्रस्ताव अस्वीकार होने पर तिष्यरक्षिता का अनुताप और छठे में उसका प्रतिशोध दिखाया गया है। ये दोनों सर्ग मनोवैज्ञानिक हैं, इनमें कार्यव्यापार सतह पर न रहकर तलस्थ और मनोमय हो जाता है।

सातवें सर्ग में वह पुनः उभरता है और यहां तिष्यरक्षिता की कठोर आज्ञा लेकर राजचर कुणाल के नगर पहुंचता है। कुणाल प्रसन्नता-पूर्वक अपनी आंखें निकलवा डालते हैं और सहर्ष निर्वासन का दंड स्वीकार करते हैं।

आठवें सर्ग में उनके प्रस्थान की कथा वर्णित है। अपनी पत्नी राजकुमारी कांचना के साथ वे प्रायः उसी प्रकार घर से निकल पड़ते हैं जिस प्रकार राम सीता के साथ निकल पड़े थे। नगरनिवासियों की व्याकुलता भी अयोध्यावासियों के ही समान चित्रित की गई है।

नवम सर्ग में कुणाल के वे पथगीत हैं जिन्हें गाता हुआ वह दुर्गम वनों में भटकता है। इन गीतों की भावमयता हमें 'साकेत' काव्य के नवम सर्ग की याद दिलाती है, जिसमें उर्मिला के विरहगीत संगृहीत हैं। अवश्य 'कुणाल' का नवम सर्ग 'साकेत' के नवम सर्ग से आकार में बहुत छोटा है।

दशम सर्ग में कुणाल दम्पति का वन-वन विचरण करते हुए पाटलिपुत्र के समीप पहुँचना और अपने प्राचीन विहारस्थलों की चर्चा करते हुए आगे बढ़ना दिखाया गया है। किन्तु इसी समय महाराज अशोक इन्हें राजमंदिर में बुलाते हैं, वहीं इनका गायन होता है और वहीं इन्हें अपना परिचय भी देना पड़ता है।

एकादश और द्वादश सर्गों में कथा का उपसंहार है। कुणाल का परिचय प्राप्त कर अशोक उन्हें राजसिंहासन सौंप देते हैं और स्वयं काषाय धारण कर राजधानी से निकल पड़ते हैं। यहीं यह काव्य समाप्त होता है।

कथानक के सम्बन्ध में जैसे एक प्रश्न काव्य के आरम्भ में उठा था वैसे ही एक प्रश्न अंत में भी उठता है। वह यह कि कुणाल के निर्वासन और उनके पाटलिपुत्र लौटने के बीच का समय जो कवि के संकेत के अनुसार कितने ही वर्षों का था, अत्यन्त शीघ्र समाप्त क्यों कर दिया गया? निर्वासन की अवधि में 'पथगीत' के अतिरिक्त किसी भी घटना की योजना नहीं की गई। नवम सर्ग में वे गीत हैं और दशम में ही पुनर्मिलन। इनके बीच का कथानक इतना संक्षिप्त है कि कुणाल के निर्वासित जीवन का यथेष्ट विकास नहीं हो पाया।

कथानक की दृष्टि से भी यह बात खटक सकती है और कुणाल के चरित्र-चित्रण की दृष्टि से भी। कथानक की दृष्टि से निर्वासन ही वह केन्द्र है जिसकी ओर काव्य का समस्त घटनाचक्र प्रवहमान है; किन्तु हम इस केन्द्र पर पहुँचते ही पुनर्मिलन की ओर मुड़ने लगते हैं। इसे क्या घटनाओं की स्वाभाविक गति कह सकते हैं?

एक बात यहां स्मरण रखनी होगी। यदि कवि घटनाचक्र को स्वच्छन्द रूप से बढ़ने देता तो खंडकाव्य न होकर 'कुणाल' महाकाव्य बन जाता। खंडकाव्य में घटनाओं को इतना विस्तार नहीं दिया जा सकता था। इसलिए रचना की सीमा का ध्यान रखते हुए कथानक पर की गई आपत्ति बहुत कुछ निर्बल हो जाती है।

सच पूछिए तो निर्वासन नहीं, आंखों का अर्पण करना ही नायक का मुख्य कार्य है। खंडकाव्य के लिए यह कार्य पर्याप्त है और निर्वासन को अनावश्यक विस्तार दिये बिना भी काम चल जाता है। यहां मेरी अपनी सम्मति यह अवश्य है कि आंखें अर्पण करना यदि काव्य का मुख्य कार्य है, तो उसे वर्णन में सर्वाधिक महत्त्व मिलना चाहिए था। उसके लिए एक स्वतंत्र सर्ग की भी योजना की जा सकती थी।

चरित्र-चित्रण के सम्बन्ध में भी यही बात प्रकारांतर से लागू होती है। कुणाल का चरित्र महाकाव्य के उपयुक्त धीरोदात्त बनाना कवि को इष्ट नहीं है। वह कुणाल के सिर इतना बड़ा बोझ नहीं लादना चाहता। वह केवल उसके मातृप्रेम-सम्बन्धी ऊँचे आदर्श को ही प्रमुख रूप से सामने रखता है। यदि वह अन्य घटनाओं के संयोग से चरित्र को बोझिल बना देता तो उक्त इष्ट की सिद्धि न होती।

निश्चय ही कुणाल की यह मातृवत्सलता उसके चरित्र की स्वतंत्र विशेषता नहीं है। उसके चरित्र की स्वतंत्र विशेषता उसकी चारित्रिक पवित्रता, जिसकी परीक्षा ही इस प्रसंग में हुई है। इस पवित्रता की रक्षा के लिए ही वह निरपराध होता हुआ भी कठोर से कठोर दण्ड सहर्ष स्वीकार करता है। इस प्रसंग में उसने राजाज्ञा के प्रति जो अनुलंघनीयता का भाव दिखाया है, वह भी प्रकारांतर से उक्त चारित्रिक पवित्रता का ही अंग बन गया है। इस दृष्टि से कुणाल के चरित्र की मुख्य विशेषता उसका सम-दम-संयम ही सिद्ध होता है और इस काव्य का आधार नैतिक ही ठहरता है, जो तत्कालीन बौद्ध प्रभावों के अनुकूल है।

इसी नैतिकता का दूसरा पक्ष रानी तिष्यरक्षिता के चरित्र में दिखाया गया है। तिष्यरक्षिता वयस्क अशोक की युवती पत्नी है। अशोक के महान समृद्धिमय राज्य की और उसके महत्तर हृदय की अधिकारिणी है। अधिकारमद म और विलासप्रवाह म पड़कर वह कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य को भूल गई है। किन्तु जब उसका अनुचित प्रस्ताव ठुकरा दिया जाता तब क्षण भर को उसकी चारित्रिक चेतना जग उठती है और वह अपनी करनी पर पछताती है, पर दूसरे ही क्षण वह रोषमग्ना होकर जो कठोर आज्ञाए प्रचारित करती है, वह उसकी जैसी स्थिति की राजरमणी के लिए स्वाभाविक ही है।

महत्त्व की दृष्टि से तीसरा चरित्र कांचना और चौथा अशोक का है। कांचना की चरित्रसृष्टि में लेखक ने उतनी तत्परता नहीं दिखाई जितनी उसने अशोक के चित्रण में दिखाई है। किन्तु काव्य के लिए कांचना अधिक आवश्यक और महत्त्वपूर्ण है। अशोक का इस काव्य से आधिकारिक सम्बन्ध नहीं, प्रासंगिक सम्बन्ध ही है। किन्तु कांचना तो काव्य की नायिका ही है।

तिष्यरक्षिता के सौंदर्य को अधिक प्रकर्ष देने के लिए और उसके चित्रण को अधिक प्रमुख बनाने के उद्देश्य से ही राजकुमारी कांचना का चित्रण अधिक उभार नहीं पा सका। तिष्यरक्षिता की तुलना में कांचना का चित्रण, काव्यव्यापार को ध्यान में रखते हुए, नमित अवश्य दिखाना था। तो भी कांचना के चित्रण मे कुछ प्रमुख रेखाएँ छूट गई हैं, ऐसा आभास पुस्तक पढ़ लेने पर हमारे मन में रह जाता है। जिस प्रकार कुणाल, तिष्यरक्षिता और अशोक के लिए कवि ने एक-एक सर्ग रक्खा है उसी प्रकार कांचना को भी एक अलग सर्ग मिल जाता तो चित्रण समन्वय की दृष्टि से अधिक अच्छा होता।

अशोक इस काव्य में स्वतंत्र चरित्र के रूप में नहीं आये हैं। उनसे काव्य के कार्यव्यापार का कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। इसलिए अशोक के चित्रण को हम आलंकारिक ही मान सकते हैं। वातावरण

का निर्माण उससे होता है। इससे अधिक उसकी उपयोगिता नहीं दिखाई देती।

इनके अतिरिक्त और कोई उल्लेखनीय चरित्र इस काव्य में नहीं आया है।

अब इसके देश-काल के सम्बन्ध में भी विचार कर लें। हम कह चुके हैं कि इसका कथानक इतिहास पर आधारित है। दूसरे शब्दों में इसका देश-काल प्राचीन है। सम्राट अशोक के समय के पाटलिपुत्र के वर्णन से यह काव्य आरंभ हुआ है। तत्कालीन श्रीसमृद्धि का अच्छा परिचय इस वर्णन से मिल जाता है। उस समय की मुख्य-मुख्य विशेषताएँ भी प्रकाश में आ जाती हैं।

काव्य का कथानक राजपरिवार के व्यक्तियों का कथानक है। इसलिए स्वभावतः राजपुरुषों के जीवन का ऐश्वर्यमय वातावरण दिखाना कवि को इष्ट था। किन्तु वातावरण के रूप में ऐश्वर्य का प्रदर्शन करते हुए भी अशोक और कुणाल के चरित्रों के आदर्शवादी और मानवीय पक्षों को ही उसने अधिकतर अंकित किया है। यहां तक कि बालक कुणाल को राजकीय वैभव की चिन्ता न कर—

'वह धूल भरा नटखट आया
मुँह में मिट्टी उंगली गीली
यह कौन वेश वह धर लाया!'

जैसे सामान्य रूप में दिखाया गया है और—

देखता ललक कर दूध दही,
जो टंगो सिकहरे ऊपर ही।

दूध-दही के लिए ललकता हुआ भी प्रदर्शित गिया गया है। यह ललकना तो अच्छा लगता है पर 'सिकहरे' के लिए कोई अधिक उपयुक्त शब्द अपेक्षित था।

केवल एक ही स्थान पर वर्णन में काल का क्रम भंग दीखता है—

कहता 'मा देखो मैं छलपल,
घोले पर दिल्ली ओ आया।'

कुणाल के समय में 'दिल्ली' नगरी तो सम्भवतः थी पर उसका यह नाम न था।

देश-काल का इतना ही उल्लेख बस होगा। अब प्रश्न यह है कि इस काव्य का उद्देश्य या साध्य क्या है और उस साध्य का हमारे वर्तमान जीवन से कुछ सम्बन्ध है या नहीं। कुणाल काव्य का मुख्य साध्य तो कुणाल का चरित्र प्रस्तुत करना और उसकी सहायता से तत्कालीन सामाजिक जागृति का परिचय देना है। इसका दूसरा साध्य जो पहले का ही आनुषंगिक है, उस समय के जीवन का यथार्थ चित्र उपस्थित करना है। तीसरा और गौण आशय इतिहासप्रसिद्ध राज-परिवार से सम्बन्ध रखनेवाले मार्मिक कथानक और घटनाचक्र का वर्णन करना है।

इन साध्यों की हमारे आज के जीवन में क्या उपयोगिता है? इस प्रश्न के उत्तर में एकमत हो सकना सम्भव नहीं है। नीति और आचार के बाह्य पक्षों का आग्रह न करते हुए भी केवल काव्य की दृष्टि से इतना कहा जा सकता है कि कुणाल के चरित्र में असाधारण दृढ़ता और सहनशक्ति चित्रित की गई है। इसका काव्यगत ही नहीं, सामयिक जीवन में भी सार्वजनीन मूल्य है। तत्कालीन जीवन के यथातथ्य चित्रण में कवि का आशय अपने प्राचीन कृतित्व की ओर ध्यान आकृष्ट कर राष्ट्रीयता की भावना भरना है। हमें शिकायत इतनी ही है कि इस काल के चित्रण में कवि और अधिक यथार्थता और विवरण में क्यों नहीं गया? तीसरा साध्य, रमणीक कथानक का निर्माण भी मानवजीवन की स्थिर कलात्मक आकांक्षा की ही पूर्ति करता है।

इस सम्बन्ध में शंकाएँ हो सकती हैं कि भूतकाल में कवि का विचरण करना वर्त्तमान जीवन से पलायन-मात्र है और राजपरिवार के विविध प्रसंगों का आलेख पुरानी सामंतकालीन रुचि और संस्कारों का परिचायक है। किन्तु कवि के काव्यप्रवाह को ध्यान में रखते हुए उसकी वास्तविक प्रवृत्तियों का आकलन करने पर ये आरोप निराधार सिद्ध होते हैं। कवि का लक्ष्य विभ्रांत होकर अतीत में विचरण करना मात्र नहीं है, वह साशय विचरण है और राजपरिवार के चित्रण में सामन्तकाल का मिथ्या मोह नहीं है, उस काल के ऊँचे आदर्शों के प्रति सजग श्रद्धा का भाव है।

यदि यह कहा जाय कि उन आदर्शों का चित्रण भी आज के लिए प्रतिक्रियात्मक वस्तु है और राजपरिवार के जीवन को आदर्श रूप में अंकित करना ही अपराध है, तो इस अपराध को कवि की ओर से स्वीकार कर लेना पड़ेगा। किन्तु उन अतिवादी आलोचकों से यह निवेदन करना होगा कि देश, राष्ट्र और संस्कृति का नाम लेना छोड़कर और क्रमागत भाषा तथा काव्य से विच्छिन्न होकर मूक, बर्बर और अकिंचन जीवन की उपासना वे आरंभ कर दें।

जहां तक सोहनलालजी और उनकी इस रचना का सम्बन्ध है, उन्होंने प्राचीन कथानक तो ग्रहण ही किया है, अपने पूर्ववर्ती कवियों के छन्द और यत्र-तत्र उनकी अभिव्यंजना-शैली भी अपनाई है। सोहनलाल जी के सम्बन्ध में मैं कह चुका हूं कि उनमें वीरपूजा की प्रवृत्ति प्रकृति-गत है। उनका यह गुण जहां एक ओर उन्हें नवीन और पुरातन महिमामय चरित्रों और आख्यानों के अनुसंधान तथा गुणगान में लगा सका, वहां दूसरी ओर पूर्ववर्ती काव्य का सौरभ भी उन्हें लुब्ध कर सका और मधुकर की सी गुणग्राही रसिकता भी उनमें आ सकी। आरम्भ से ही मेरी यह धारणा रही कि सोहनलालजी नवीन प्रवर्तन की अपेक्षा नवीन परिष्कृति और नव्यसज्जा के कवि हैं; किन्तु इस कारण मेरे मन में उनके काव्य के प्रति लघुता की धारणा कभी नहीं रही।

मेरा सदैव यह विश्वास रहा है कि हिन्दी को नवीन प्रवर्तकों की जितनी आवश्यकता है उससे कम आवश्यकता भाषा और साहित्य को प्रौढ़ता प्रदान करनेवाले कविहृदय रसज्ञों की नहीं है। सोहनलालजी को मैं प्रचुर मौलिकतासम्पन्न ऐसा ही कविहृदय रसज्ञ मानता आया हूँ और उनके कुणाल काव्य को पढ़ लेने के पश्चात् मेरी यह धारणा और भी दृढ़ हो गई है कि राष्ट्रीयता का अनन्य प्रेमी यह वीरोपासक कवि हिन्दी में राष्ट्रीय महाकाव्य की कमी पूरी करने के लिए ही सौभाग्यवश हमारे साहित्य में आया है।

जहां तक प्रस्तुत पुस्तक का सम्बन्ध है, कवि ने वर्णनात्मक प्रसंगों की अपेक्षा भावगीतों में अधिक सफलता पाई है। नवम सर्ग के पथगीतों का हम ऊपर उल्लेख कर चुके हैं। द्वितीय, तृतीय और अष्टम सर्ग में भी कुछ गीत हैं। काव्य के उत्कृष्ट स्थलों में इनकी भी गणना की जायगी। रूप-चित्रण में भी कवि को यथेष्ट सफलता मिली है। तिष्यरक्षिता और कुणाल का तारुण्य अंकित करते हुए सुन्दर उपमाओं का संग्रह किया गया है। अशोक के ऐश्वर्य का भी अच्छा वर्णन है—

सुख श्री सम्पति के कमल कुञ्ज,
खिल उठे रत्न घन पत्र पुंज
उल्लास लासमय मधुप गुंज,
था कहीं न पीड़ा का विलाप।

× × ×

थी वामपार्श्व में खंग नग्न
ज्यों राज्यश्री हो मौर्यमग्न-
पदतल लुंठित हो भक्ति लग्न
अकलंकित उज्ज्वल तीक्ष्णधार

मानसिक स्थितियों के चित्रण में भी कवि की निपुणता उल्लेखनीय है। तिष्यरक्षिता के चरित्र में मानसिक संघर्ष और मनोगतियों का अच्छा निरूपण हुआ है। तरुणी, राजमहिषी और व्यभिचारिणी का

संयुक्त स्वरूप अंकित करने में स्वभावतः कठिनाई थी। किन्तु फिर भी कवि ने इस चरित्र को अच्छी रूप-रेखा दी है।

इस काव्य का मुख्य रस शांत ही है। करुण रस की भी धारा इसमें बही है, किन्तु सम्पूर्ण काव्य का पर्यवसान शान्त में ही हुआ है। भारतीय आदर्शों के उपासक कवि के लिए शांत रस की यह नियोजना स्वाभाविक ही है।

—नन्ददुलारे वाजपेयी

पाटलिपुत्र

जगजीवन के स्वर्ण प्रहर-सा
पाटलिपुत्र शांत अभिराम,
सुरसरि की चंचल लहरों में
देखा करता मुख अविराम;

नभ-चुम्बी शरदभ्र-सदृश थे
सप्त सौध अति रम्य खड़े
उड़ता मौर्य-केतु था जिनपर
ध्वज-निशान उत्तुंग बड़े।

थी प्राचीर धैर्य-सी निर्मित
बना राज्य-श्री की प्रहरी,
पथ प्रशस्त, शत सिंहद्वार थे,
उठती वैभव की लहरी।

पाटलिपुत्र पढ़ रहा था
अपने जीवन के कंचन-पृष्ठ,
चिर महिमा गरिमा की घड़ियां
आज और भी थीं वे स्पष्ट।

सोच रहा था वह मन ही मन
अपना पुरावृत्त इतिहास,
कैसे शिशु से तरुण हो उठा
यौवन का आ गया विकास।

पूर्णकाम, सम्पूर्ण मनोरथ,
दूर सदा रहता था शोक
इस समृद्धि को उत्कंठा से
देखा करता था सुरलोक।

सच पूछो तो, मिला आज ही
पृथ्वी को पावन आलोक,
वह अशोक बन गई स्वयं ही,
पाकर पृथ्वीपाल अशोक।

एक ओर गंगा चांदी से
भरती थी गृह का कोना,
सोन नदी, दूसरी ओर थी,
नित्य बहा लाती सोना।

भव्य भवन में शिल्पकला के
खिले हुए थे अभिनव पद्म,
तूली की रेखाओं से ये
कलानिकेतन-से थे सद्म।

सघन सफल नव वृक्षावलियां
पथ पर करती थीं छाया,
बहती रहती सुरभि माधवी,
खिलती मधुऋतु-सी काया।

वापी, कूप, तड़ाग, सरोवर,
वसुधातल से ले मधु-स्रोत,
जीवन सजल बनाते रहते,
बहता सुख से जीवन-पोत।

जो भी आते मौर्य-नगर में
देख सुसंस्कृत का संसार,
पढ़ते-से प्रशस्ति जनपद की
जाते ले विस्मय उपहार।

मुक्तद्वार रहते थे गृह-गृह
नहीं अर्गला का था कार्य,
पथ पर गिरे रत्न कंकड़ को,
पथ पर पा जाते थे आर्य।

राजनीति से विज्ञ लोक था
सुलझा जटिल ग्रंथियां गूढ़,
'पौरसभा' नित योग क्षेम का
वहन किया करती आरूढ़;

तक्षशिला औ' सारनाथ की
गंगा - यमुना का संगम,
पावन पाटलिपुत्र बना था,
खुले ज्ञान के थे सब क्रम।

अंतःपुर में हास-विलासों की
उठती थी मदिर हिलोर
थीं रानियां अनेक,
पद्मिनी-सी उकसाती हृदय-सरोर।

देता था सौंदर्य स्नेह से
यौवन को मद का प्याला,
ऊषा - संध्या बैठी रहती,
खोल प्रकृति की मधुशाला।

नूपुर की रुनझुन-रुनझुन में
घुल जाती उर की झनकार,
अंग तरंगों में तिरते थे
नयनों के जलजात अपार।

हेमकुंभ की मधुधारा से
करके विकल कामना शांत,
कामिनियां कटाक्ष से भरतीं
नवविलास की तृष्णा क्रांत।

चंपक-सी वेला, गुलाब-सी
कलित केतकी-सी बनठन,
अलिकुल को आमंत्रण देती
किसी कुंज में संगोपन।

कलित कपोलों पर प्रतिबिंबित
था यौवन का मद अभिराम,
मंडराते अलिकुल चंचल हो
तरल वासना से उद्दाम।

सघन कुंज के अलस-मलय में
कहीं दूर बैठे एकांत,
रूपसियां आमंत्रित करतीं
किसी रसिक को कर उद्भ्रांत।

लोल लताओं के झुरमुट में
चलता फिर गुपचुप संलाप,
आत्म प्रलय कर निभृत निलय में
खिल उठता बनकर सुरचाप।

रणप्रांगण में उधर वीरवल
लेकर के विक्रम गांडीव,
लक्ष्य भेदते एक ध्यान हो
स्वयं लक्ष्यमय हो उद्ग्रीव।

अंगों की अंगड़ाई लेते
लौह-कवच हो जाते चूर्ण,
वक्षःस्थल विस्तृत विशाल थे
रक्त वीर्य से बलमय पूर्ण।

भुजदंडों के बल अखण्ड पर,
मत्त मतंग प्रणत पदमूल,
वंदन अभिनन्दन करते थे
अर्पित कर मद मुक्ता-फूल।

शस्त्रों के घन गुरु निनाद से
बधिर बनाते नभ के कान,
अक्षौहिणी खड़ी रहती थी,
करने को रण में प्रस्थान।

गजसेना, रथसेना, पदचर
लिए मौर्य गौरव का केतु,
प्रस्तुत-से रहते पलभर में
रण - सागर का बनने सेतु।

होती ही रहती क्षण-क्षण में
शस्त्रों की भीषण झनकार,
नभमंडल में फट करते
बाणों के उल्का अंगार!

अगणित मुखरित चपल राष्ट्र
कुल को कर पद-आनत पल में,
था द्विगुणित उत्साह झलकता
विजयकांत सैनिक-दल में।

तक्षशिला, औ' सारनाथ से
आकर परिव्राजक, आचार्य,
संघ-समाजों में रखते थे
गूढ़ समस्या, प्रश्न विचार्य।

अर्थ-शास्त्र, साहित्य, नीति
की जटिल ग्रंथियों के उलझाव,
सुलझाते थे विज्ञ, ज्ञानगुरु,
फैलाते आनन्द - प्रभाव।

दैहिक - दैविक - भौतिक - तापों
का होता रहता परिशोध,
ज्ञान, कर्म, वैराग्य, भक्ति से
होता रहता आत्मप्रबोध।

यज्ञ यजन हो, वैदिक जीवन
या कि अहिंसा ही है सत्य!
होती थी विवेचना निशिदिन,
परम तत्त्व खिलता था नित्य!

विविध संप्रदायों के मत पर
होता सयत वाद विवाद,
स्वयं मगधपति संयोजक बन,
वितरण करता तत्त्व प्रसाद।

शस्त्रों का था हुआ विसर्जन,
न्याय दया को कर आधार,
भू पर नहीं, किन्तु मन में भी,
बढ़ने लगा राज्यविस्तार।

देवमन्दिरों में सन्ध्या में
होता पूजन का संभार,
लिये स्वर्ण आरती भक्त जन
करते शंखध्वनि झनकार।

चन्दन, अक्षत, पुष्प, धूप औ'
माणिक मणियों के उपहार,
इष्टदेव पदतल अर्पित कर,
पाते परम शान्ति उपहार।

केसर कस्तूरी पराग का
ले सुगन्धमय कञ्चनथाल
पुरवासी जाते पूजन को
होता वह मंगलमय काल।

बालक वृद्ध सभी नर-नारी
पुष्पांजलि धरकर पद मूल
बन जाते अद्वैत ध्यान में,
जाते द्वैत विश्व को भूल।

कहीं जैन-मन्दिर में होता
स्वस्ति-स्तवन अनेक प्रकार,
कहीं बौद्धमठ में प्रवचन से
होता आत्म-शान्ति-विस्तार।

वैदिक, बौद्ध, जैन, आलोपिक,
ब्राह्मण, श्रवण, सभी अविकल,
थे स्वधर्म में निरत कर्मभय,
थी अबाध साधना सकल!

सामगान से बौद्धवचन तक
जितना बजा आत्मसंगीत,
सबकी श्रुतियां, मींड़ मूर्च्छना,
झंकृत करती प्राण पुनीत।

इन्द्रलोक की मणियां लेकर
सुरपुर का लेकर सौंदर्य
आपण-श्री थी सजी राजकन्या-
सी, बनी सजग आश्चर्य!

थे सोलह शृंगार मनोहर,
अंग-भंगिमा में तरलित,
गन्ध-मुग्ध दृग अंध पथिकजन,
करते क्रय-विक्रय पुलकित।

काश्मीर, सिंहल, विदर्भ,
केरल, कलिंग ला मुक्ताहार,
तोल तुला में, हृदय उल्लसित,
ले जाते कंचन का भार।

काशी, पुंड्र, मत्स्य थे लाते
दुग्ध स्निग्ध मृदु मृदुल दुकूल,
श्रम का पा संभोग, योग्य धन,
करते सुजयात्रा भवकूल।

सप्तसिन्धु के महापोत थे
लाते अगणित निधि-भंडार,
पाटलिपुत्र उन्हें क्रय करता
देता सुख-सुविधा विस्तार।

था अनुपम सौंदर्य किन्तु
करता विवेक सब पर संयम,
रहे समन्वय सब भोगों का
ऐसा था विधान उपक्रम।

जग-जीवन के संचालन का
केन्द्र बना था मौर्यनगर,
जिसके पावन सरस स्पर्श से
खिला विश्व शतदल सुन्दर!

कुणाल

बिंदुसार के परम पुण्य से
उपजा श्यामल विटप अशोक,
स्निग्ध सघन पल्लव के नीचे
छाया चिर शीतल आलोक।

अगणित सजल सफल शाखाएँ
फैलीं शोभन सुखद रसाल,
भरतखंड को आच्छादित कर
सुख-समृद्धि देतीं तत्काल।

गान लगे विहग मुदित हो
गुण गौरव का काव्य कलाप,
जो आया तरु-तले उसी का,
मिटा दीर्घ दारुण संताप।

अरुण उषा की लाली में
घुल-मिलकर, पीकर पीतपराग,
इस तरुवर में हुआ प्रस्फुटित
एक नवल दल, अरुणिम राग।

विहगावलियों ने अंतर में
गाया उस दिन मंगल गान,
पुण्य पर्व देने आया था,
जग को योग क्षेम कल्याण।

मगधराज की वसुंधरा में
उस दिन, बन अन्तःसलिला,
बही स्नेह की अमृत-धारा,
प्रकटित विधि की दिव्यकला।

उस दिन लिये बधावा आई
गृह-गृह दिन में दीवाली,
मंगलघट; तोरण वंदन थे,
समारोह वैभवशाली

पुण्यदान रंकों ने पाये,
मुक्त हुए कारा के द्वार,
बन्दी हुए विमुक्त,
बना था उस दिन मंगलमय संसार।

मंगल वाद्य बजे थे उस दिन,
क्षण-क्षण में आनंद भरा,
चंद्रगुप्त का तेज अंश था
बाल इंदु बनकर उतरा!

साम-गान की उठी सोमरस,
वर्षी वैदिक कंठ हिलोर,
ऋत्विक की मांगलिक ऋचाओं
ने दी दशों दिशाएं बोर!

पुरोहितों ने देख रूप गुण,
स्निग्ध तंतुमय मृदुल मृणाल,
आत्मविभोर, हर्ष में उस दिन
नामकरण था किया 'कुणाल'।

कुछ दिन बीते यजन हवन में
करते कुशल मंगलाचार,
आया दिवस, देखने शिशु शशि,
उमड़ा जन जलनिधि का ज्वार।

कुछ दिन, रह करके अनाम ही
कुछ दिन ही में पाकर नाम,
खिलने लगा नवल किसलय यह
बिखराता रस-रूप प्रकाम।

कंचन का ले रंग, और
सरसिज की लेकर कोमलता,
विधि ने था निर्माण किया,
यह अभिनव शोभा-कल्पलता।

वाणी ने दे करके वीणा,
किया स्निग्ध स्वर का संचार;
जग-जननी ने उठा गोद में,
किया वत्स का चुंबन प्यार।

लगे बीतने दिवस, पक्ष,
वैसे ही शशि-शिशु-सा अभिराम,
कलित कुणाल, लगा मुसकाने,
रोने 'माँ' 'माँ' कह अविराम।

सुनी जिस घड़ी अपने ही,
आत्मा की आकुल मधुर पुकार,
रमणी जननी बनी धन्य,
हो गई स्वयं पर ही बलिहार!

उठा लिया, उत्सुक उन्मुख हो,
अपने रक्तबिन्दु का पिण्ड,
माया से मिलने आया हो
जैसे हो साकार अखण्ड!

कोमल कलित ललित कपोल का
जिस दिन, किया सरस चुंबन,
भूल गई अपना समस्त दुख,
प्रसवकाल का उत्पीड़न!

स्नेह-स्रवित हो उठा अमृतपय,
बना आर्द्र उर औ' अंचल,
मिला अमल आनंद, तिरोहित
हुए सकल कलमष कज्जल!

जब अशोक ने लिया अंक में
वह नीरव कुड्मल निस्पन्द,
भूल गये साम्राज्य सौख्य सब,
मिला अमल चेतन आनंद।

पाटलिपुत्र परम प्रसन्न
पा करके नये खिलौने को,
स्वप्न-सुमन से लगा सजाने
अपने हृदय-बिछौने को।

प्रात प्रभाती, निशि में लोरी,
मुखरित होता था संगीत,
आंगन में अनेक भावों की
लहरें उठतीं सरस पुनीत—

गीत

आंगन में बाल खिलौना था
आकुल हिरणी-सी मां तकती, कब,
किधर चला मृगछौना था।

चंचल थे बड़े-बड़े लोचन,
सुख बांट रहे थे दुखमोचन
हेरता जिधर नव आकर्षण का
बिछता स्वप्न बिछौना था।

जब कहता—मां मां या मम मम,
मधुमेघ बरस पड़ते रिमझिम,
लग जाय न दृष्टि किसी की,
सिर पर अंकित श्याम ढिठौना था।

देखता ललककर दूध-दही,
जो टंगी सिकहरे ऊपर ही
पाता कैसे मिश्री—शशि-सी,
वह अभी बहुत ही बौना था।

वह धूल-भरा नटखट आया,
मुँह में मिट्टी, उँगली गीली,
यह कौन वेश वह धर लाया।

कुंचित अलकों में धूलि भरी,
मिट्टी से क्या शोभा निखरी,
क्या शिशु शंकर धर भस्म अंग,
जननी का मन हरने धाया?

घोड़ा था एक, बना लकुटी
धोती जाती थी बीच छुटी;
कहता, 'मां देखो मैं छलपल
घोले पल दिल्ली ओ आया'।

माता हो जाती मुग्ध खड़ी,
सुख-बूँदें ढरतीं बड़ी बड़ी;
यह जानेगा आनंद वही
जिसने जननी का पद पाया।

तारुण्य

आज शिशु से हो गया है
तरुण-अरुण कुणाल,
तर्क-सी अलक लहरातीं,
दीप्त उन्नत भाल;

निखर-सा है उठा सुंदर
देह में तारुण्य,
इन्द्रधनु की रुचि चुराकर
खेलता आरुण्य ।

अधर पल्लव में थिरकती
ज्योत्स्ना मुसकान,
नयन ने सीखा सहज ही
घेरना मन प्रान।

आज अंगों में चढ़ा
कमनीयता का रंग ,
कनक चंपक मुरझते-से
देख छवि का ढंग ।

काकली में आज अविकल
स्पष्ट थे मृदु बोल,
मेघचन्द्र गिरा बनी देती
सुरस रस घोल ।

विश्व के सौंदर्य औ'
माधुर्य का सब सार,
केन्द्रगत-सा हो गया
जैसे यहीं साभार ।

देखता जिस ओर
पड़ती मंत्रमोहन दृष्टि,
मुग्ध मन बरवस निरखना
चाहता वह सृष्टि ।

पारदर्शी-से, मुकुर-से थे
मनोरम अंग,
झलकता अंतः बहिः;
जिनमें अलौकिक रंग ।

थी भ्रकुटि की भंगिमा
कुछ बनी धनुषाकार,
छू रहा था छोर श्रुति के
नयन का विस्तार।

बोलते जिससे, कभी तो
डाल देते प्राण,
आत्मविस्मृति का उसे
मिलता मधुर वरदान;

बाहु थे आजानु
विस्तृत ज्यों महान् विचार,
विशद वक्षःस्थल वहन
करता भुवन का भार।

शील औ' सौंदर्य अनुपम
शक्ति के उपमान,
आर्यश्रेष्ठ कुणाल थे ज्यों
शुभ भविष्य महान।

स्कंध पर था लहर लेता
उत्तरीय अमोल,
श्रुतिपुटों में कनक - कुण्डल
रहे रह रह डोल।

नग्न तन भी वे दिखाते
अतुल शोभागार,
प्रकृत शोभा को कहीं क्या
पा सका शृंगार?

कनक में उठती मनोरम
हो विमुग्ध सुगंध,
वयन को वाणी मिली हो
हो प्रणय अनुबंध ।

युवा हो औं अमरता भी
दे रही हो संग,
रूप भी हो, हृदय भी हो
भर रहा उत्संग ।

थे सकल कवि कल्पना
के थे नवल उपमान ।
विधि बना था धन्य
कर उनका सफल निर्माण।

था न यह सौंदर्य—
अंगों की मनोहर कांति,
प्राण दृग से झांककर
थे दे रहे सुख-शांति ।

था सभी शोभन मनोरम
किन्तु लोचन पद्म,
थे बड़े ही हृदय-स्पर्शी
स्वर्ग सुख के सद्म ।

देखकर ये कमल-लोचन
हो गये मृग मुग्ध,
पास आकर पान करते
सृष्टि का मधु दुग्ध !

विश्व के सब रूप-रस को
तूलिका पर खींच,
किया विधि ने नयन-निर्मित
ज्यों भुवन के बीच।

मोल ले लेते पलक में
ये चपल उद्दाम,
मन बिका बरबस वहीं पर
घूमता वसुयाम।

शस्त्र शास्त्रों में बने वे
शीघ्र ही निष्णात,
पिता का था पुत्र में
बहता रुधिर अवदात।

यह अशोक महान का ही
दूसरा था रूप,
रूप-प्रेमी ने लिया था
आज जन्म अनूप।

एक से दो हो गया, करता
अभिलाषा पूर्ति,
धर्म के सद्भावना की
थी यही मधुमूर्ति।

मगध मानस के गये खिल
कमल-कुल की आंख,
विरुद गाते सूत बंदी
लगे देने साख !

हर्ष उत्सव के लगाकर
पंख सभय विहंग,
लगा उड़ने चूमता
मंजुल सुगंध के शृंग।

बज रही थी हृदय में
मधु विखरती-सी बीन,
आत्मविस्मृति में सभी थे
सुखी, सज्ञाहीन!

अशोक

खुलता नीला आवरण एक,
हटते निशिदिन के स्तर अनेक,
है पुण्यपर्व करताऽभिषेक,
सुरभित अतीत के अंचल में।

मधुऋतु का था पावन प्रभात,
किरणों का मादक अरुण गात,
बहती थी शीतल मंद वात,
शुभ दिन के प्रथम प्रहर पल में।

माणिक मरकतमय सिंहासन,
था स्वर्णछत्र ऊपर शोभन,
चारण करते थे उच्चारण,
गर्वित कलिंग के विजय-गीत।

सामंत, सभासद, मंत्रीगण,
हर्षित थे तन, पुलकित थे मन,
जन-जन में अभिनव आकर्षण,
उत्सव होते नित नव पुनीत।

उन्नत ललाट, लोचन, विशाल,
आजान बाहु, भ्रू बनी व्याल,
विस्तृत उर पर, माधवी माल,
उड़ती उन्नत हो उत्तरीय।

मस्तक पर अक्षत शुचि चंदन,
भुजदंडों पर, मरकत कंकण,
कटितट पीतांबर वरशोभन,
मणि मुकुट शीश पर वंदनीय।

केंचुल-सा शुभ्र स्वच्छ अंचल, उत्तरीय
मलयज करता जिसको चंचल,
पार्श्वों में 'लहर-लहर प्रतिपल,
करता सुषमा की दिव्य सृष्टि।

ज्यों क्षीरसिंधु ही धर शरीर,
शोभित सिंहासन में गंभीर,
उठ रही ऊर्मियां हों अधीर,
बरसाती अमृतभरी वृष्टि।

सुरभित अलकें उड़ स्कंधों पर,
भुजमूलों के प्रतिबंधों पर,
लिखती नीलम के नीलाक्षर,
पीतांबर पट के कोनों में।

श्रुतिपुट में हीरक के कुंडल,
गति में होकर प्रतिपल चंचल,
लगते नक्षत्रों से उज्ज्वल,
कोमल कानों के दोनों में।

रणरक्त सिंधु में भर उमंग,
प्रक्षालन कर आपाद अंग,
जयश्री का पाकर और रंग,
लज्जित करती अरिदल अपार।

थी वामपार्श्व में खड्ग नग्न,
ज्यों राज्यश्री हो मौर्य मग्न,
पदतल लुंठित हो भक्तिलग्न,
अकलंकित उज्ज्वल तीक्ष्ण धार!

था मौर्यवंश सौभाग्य-सूर्य,
चूड़ांत चमकता ज्यों विदूर्य,
बजता दिशि-दिशि में विजय-तूर्य,
पाकर अशोक का बल प्रताप।

सुख श्री संपति के कमलकुंज,
खिल उठे रत्नघन पत्रपुञ्ज,
उल्लास लासमय मधुप गुञ्ज,
था कहीं न पीड़ा का विलाप।

प्रतिहारी लेकर हेमथाल,
नवचंदन, अक्षत, पुष्पमाल,
अभिनंदन में हो विनतभाल,
थी खड़ी शिला-सी मूर्तिमान।

केसर कस्तूरी की सुगंध,
करती थी प्रतिपल नयन अंध,
था धूप दीप का यों प्रबंध,
उड़ते सौरभ के अभ्रयान।

पथ पर विकीर्ण थे कहीं फूल,
घर्षण से फट जाते दुकूल,
खुल जाते सुग्रथित केशमूल,
उठती जन-सागर की तरंग।

शंख-ध्वनि थी, था शंगीरव,
घर्घरिका वंशी का वैभव,
नूपुर मृदंग की गति संभव,
भरती प्राणों में नव उमंग।

केयूर, कहीं पर रत्नहार,
संभ्रम-से होकर छिन्नतार,
पदतल आते थे निराधार,
दर्शकगण थे आनंद-मग्न।

अंगों से च्युत हो अंगराग,
औरों के लगता बन सुराग,
पदतल बिछता था बन पराग,
आई थी सुख की पुण्यलग्न।

पच्चीस

थे चँवर डुलाते वंदीजन,
मलयज था बांट रहा चन्दन,
सौरभ ले आया था नंदन
वैदिक गाते थे सामगान!

उठता था सुरभित यज्ञधूम,
मंगल में दिशि-दिशि घूम-घूम,
लेता था आंखें पलक चूम,
पावन था उत्सव का विधान।

थे सजे कलश से सिंहद्वार,
ध्वज, तोरण बंदन द्वार-द्वार,
मंगल-घट, घृत दीपक अपार,
दीपावलि दिन में बनी सुघर।

जयकुंजर, मद से रक्त लाल,
संध्या-सी लहरों में मराल,
थे कहीं नृत्य करते रसाल,
हो जाते थे लोचन विमुग्ध।

मल्लों के कहीं जमे दंगल,
सागर-सा प्लावित दर्शक दल,
वह जयी हुआ जिसके भुजबल,
उसकी जय उसका तुमुल घोष!

था कहीं रसिक-कुल का संकुल,
नव वणिकाओं का स्वर व्याकुल,
हर्षध्वनि, करतलध्वनि आकुल,
भरता था मन के रिक्त कोष।

अक्षर मात्रा च्युत बिंदुमती,
गूढ़ार्थ पदक, गुरु कूट पदी,
अभिनव प्रहेलिका अर्थवती,
थी होती कहीं काव्यचर्चा।

गुणमंडित पंडित आखंडल,
शास्त्रार्थ निरत गुणगणिसंडल,
विद्या विनोद, था हर्ष तरल,
होती रहती थी देवार्चा।

शोभित अशोक सिंहासन में,
करके कलिंग जय जीवन में,
गंभीर जलधि-से थे मन में,
चलती नवसुख की नई बात।

क्या हो प्रसंग, क्या राग-रंग?
उत्सव-विधान का कौन ढंग?
किस अनुरञ्जन के सजें अंग?
जिससे फूटे नवमधु प्रभात।

निर्णीत हुआ हो नाटक नव,
जिसमें कुणाल का हो वैभव,
अभिनेता सभी राज्य संभव,
सम्पूर्ण बने तब महोत्साह।

शत-शत विधान, शत-शत वितान
निर्णीत हुआ, हो नृत्यगान,
उमड़े जिससे नवरस महान,
ऐसा हो सुख का मधु प्रवाह!

निर्माण हुआ शुभ नाट्यमंच,
जिसम न कहीं त्रुटि रही रंच,
रच गया इसे ज्यों आ विरंच,
माणिक मरकत-से कान्तिमान।

ज्यों ज्यों रजनी होती गंभीर,
त्यों त्यों जनकुल की महाभीर,
आकर टकराती मंचतीर,
अभिनेता थे अति रूपवान।

जन-संकुल आकुल नाट्यभवन,
जन संकुल गृह के वातायन,
बैठा रनिवास वहां शोभन,
सुषमा बनती क्षण क्षण नवीन।

सामंत, सभासद, महामात्य,
सेनाधिप योद्धा, भट उदात्त,
वैदिक, औलापिक, धर्म आप्त,
संभ्रांत यथापद सुखासीन!

गूंजी शंखध्वनि कर निनाद,
सूचना बनी हरती प्रमाद,
दृश्योद्घाटन का था प्रसाद,
हो गये लक्ष दृग दृश्यलीन।

चित्रित से हो, हो एक ध्यान,
विस्मृति-विमुग्ध जनकुलमहान,
ऐसा प्रसंग का था विधान,
चैतन्य बना सबका नवीन।

कुसुमायुध बन आया कुणाल,
कर लिये पुष्पधन्वा विशाल,
शिव के त्रिनेत्र हो रहे लाल,
आह्लाद था बना काम व्याकुल।

पीछे रति ले मादक माया,
फैलाती थी स्वप्निल छाया,
ले करके कनकमयी काया,
करती थी जल-थल को आकुल!

था कभी नयन में तरल नीर,
था कभी उच्छ्वसित उर अधीर
थी कभी मूर्च्छना , मौन पीर,
यों था रस का अभिनव प्रकर्ष।

थे कभी स्फुरित-से अंग अंग,
थी कभी हृदय में नव उमंग,
थी कभी रोमहर्षण तरंग,
था द्वन्द्वों का संघर्ष धर्द !

वातायन औं सुन्दर गवाक्ष,
थे देख रहे मादक कटाक्ष,
हो रहे राग रंजित युगाक्ष,
थे विकल किसी के बने प्राण।

हो गये रूप पर नयन लुब्ध,
उत्कंठा से उर सिंधु क्षुब्ध,
उत्सुकता से यौवन विक्षुब्ध
था पड़ा लक्ष्य पर काम-बाण !

यों जमा रूपरस का सुराग,
छा गया दृगों में मद पराग,
हो गया किसी को चक्षुराग,
इस अभिनय ही की क्रीड़ा में।

आनंद कहां उत्सव महान!
कैसा परिवर्तन, क्या विधान!
सुख बना सभी था दुख महान,
मानस की नीरव पीड़ा में।

रनिवास उठा आ गया सब,
था खिला रात्रि का किन्तु पक्ष;
किसने आकर यह किया छद्म?
था मथित आज मानस गंभीर।

पूछती सहेली सखी विकल,
क्यों प्राणोद्वेलित हैं चंचल?
सम्राज्ञी के दृग में था जल,
उत्तर था—सिर में उठी पीर!

प्रतिहारी ले सुरभित चन्दन,
कर्पूर, नीर, मणिखचित विजन,
शीतोपचार कर, डुला पवन,
लग गई मुक्त करने कबरी।

अब तिष्यरक्षिता बनी शांत,
कुछ सजग, सचेत, गहन, प्रशांत,
लज्जारुण हो कमनीय कांत,
बोली, 'प्रकृतिस्थ हुई अब री!'

तिष्यरक्षिता

अभिनय उधर समाप्त, इधर
आरम्भ और ही अभिनय,
तिष्यरक्षिता के मानस में
हुआ प्रेम अरुणोदय।

लगे कामना के पक्षीदल
करने मधुमय कलरव,
लगी वासना की कलिकायें
बिखराने मधु वैभव।

सम्राज्ञी के जीवन - वन में
फूटे नव-नव पल्लव,
अभिलाषा के इन्द्रधनुष थे
लिये रंग श्री अभिनव!

बाहु लताओं में रस आया,
बनी हर्ष से चंचल,
पल्लव पाणि संपुटित,
खुलने लगे चाह से पागल।

मन का हंस उड़ा मानस-से
चुगने मुक्ता उज्ज्वल,
उच्च नभोमण्डल में उड़कर
पाने जीवन-संबल!

आंखों की नीलम घाटी में
उगी नई दूर्वादल,
चारु कपोलों की सरसी में
लहरें लहरीं कोमल!

यौवन के रसाल-वन में
मंजरी रूप की मादक,
भरने लगी सुरभि तृण-तृण में
विस्मृति सुख उन्मादक!

आंखों में, प्राणों में उमड़ा
मधुर उमंगों का रस,
वक्षःस्थल में मिलनोत्कंठा
अंगों में मद आलस!

तिष्यरक्षिता लगी झूलने
स्वप्नों के हिंदोल,
कब आयेगा मिलन प्राप्त
उमड़ेगी सुख-हिल्लोल!

गीत

आज क्यों मन है बहक रहा ?
विकसा कौन पद्म मानस में,
तन मन महक रहा ?

है उन्माद भरा आंखों में,
नई प्रगति आई पांखों में,

आज पपीहा-सा मन बन क्यों,
पी पी चहक रहा ?

खिली रूप की नव फुलवारी,
फूली नये फूल की क्यारी,
विकसित पंखुरियां शतदल की,

वही सुगंध अहा !
आज क्यों मन है बहक रहा ?

गीत

मधु वसंत की खिली यामिनी
चुपके छुपके आ जाना,
सुरभि बने रजनीगंधा में
आकर प्राण समा जाना।

चांद मुसकराता अंबर में
ओ शशि तुम भी मुसकाना,
देखो खिले नयन के तारे
यौवन धन छवि छिटकाना।

आंखों की यमुना उमड़ी है
कालिंदी तट पर आना,
मेरे मन के वृन्दावन में
मुरली मधुर बजा जाना।

मेरी वीणा की स्वरलहरी!
आ तारों में सो जाना,
विलग हो सको फिर न कभी,
प्राणों में प्राण समा जाना।

दूर्वा के नवनव अंकुर-सी
जगती नवनव अभिलाषा,
तिव्यरक्षिता रागरंजिता
थी कविता की परिभाषा।

प्रणय-निवेदन

सुन्दरता की नव उपमा-सी,
नायिका नवीन निरुपमा-सी
लावण्यमयी खिलनेवाली
यौवन की मादक सुषमा-सी,

मानस की मधुमय आशा-सी,
उर की मादक अभिलाषा-सी,
नयनों की नीरव भाषा-सी
लज्जा की नव परिभाषा-सी;

यौवन की पहली श्री बिखरी,
उस ज्ञात-यौवना बाला-सी
जिसके अधरों के फूल अरुण,
उस प्लावित मधु के प्याला-सी

उन्नत कुच कुंभों को लेकर
फिर भी युगयुग की प्यास-सी
आमरण चरण लुंठित होने
वाली, प्रेयसि-सी, दासी-सी,

रागारुण-रंजित ऊषा-सी,
मृदु मधुर मिलन की संध्या-सी,
माधवी, मालती, शेफाली,
बेला-सी, रजनीगंधा-सी,

कुंदन-सी, कंचन, चंपक-सी
विद्युत् की नूतन रेखा-सी,
श्रावणघन के नीलांचल के
तट के विशुभ्र अवलेखा-सी,

शत शत आघातों प्रतिघातों
संघातों को चुप सहती-सी,
निर्मल गंगा की धारा में
स्वर्णिम तरणी-सी बहती-सी;

अपने ही सुख-दुख-चिंतन में
तिरती-सी डूब उतरती-सी,
आशा की और निराशा की
लहरों के संग विचरती-सी;

खिल उठी आज रूप-सी मनोरम,
नव नख-सिख शृंगार धरे,
ज्यों आत्म-प्रार्थना सज उठती,
जिसमें प्राणों के भाव भरे;

माणिक मदिरा-सी फूट रही थी
अरुण कपोलों पर लाली,
अधरों पर थी मुसकान मंद,
जैसे आ सोई उजियाली,

नीरव थी नूपुर की रुनझुन,
नीरव ही था किंकण का रव,
भय था, कोई सुन ले न कहीं,
इन चंचल चरणों का वैभव

चलती दो चरण कभी द्रुतगति,
गंभीर धीर पद, चिन्ताकुल,
तो कभी, जड़ित-सी, चित्रित-सी,
स्थिर हो जाती पथ पर व्याकुल;

थी खेल रही मुखमंडल पर,
नव अभिनव भावों की लहरी
था कभी हर्ष, तो कभी शोक,
थी धूपछांह घिरती गहरी;

शत-शत संकल्प विकल्पों को
अल्पों में, कल्प बनाती-सी
साकार कामना बनी चली,
तम में नव ज्योति जागती-सी

आई कुणाल के पार्श्व
तिष्यरक्षिता सजे सोलह श्रृंगार
रति चली मुग्ध करने जैसे,
रूठे अनंग को, ले उभार,

थे इधर कुणाल विचारमग्न,
गंभीर धीर घन नीर भरे,
दृढ़ स्कंधों पर था उत्तरीय,
थे लहर रहे कुन्तल गहरे,

बोली वीणा वाणी नंदित
वंदित हो अभिनंदित रानी,
बैठे युवराज यहां कैसे
हैं जहां नहीं कोई प्राणी?

कुछ समझा कुछ देखा तुमने,
"है जग जीवन में सार कौन?
अलि क्या कहता है सरसिज से,
सरसिज खिल उठता त्याग मौन!

बोलो, कोकिल क्या कहती है?
मधुऋतु में आम्र पल्लवित से?
क्या कहतीं बहती सरितायें,
मिलती हैं सिंधु उच्छ्वसित से?

समझे, कुणाल क्यों मलयज में
कलिका का केसर उड़ता है?
अनजान पथिक पावस ऋतु में
सहसा निज गृह को मुड़ता है!

क्यों दीपशिखा का रूप देख,
नर्तन करने लगता पतंग?
क्यों लतिका है आकुल होती,
पाने को तरु का सघन संग?"

विस्मित कुणाल इन प्रश्नों से
कुछ चकित बँधे ज्यों बन्धन में
कोई जैसे तन जकड़ रहा हो
इंद्रजाल से क्षण-क्षण में।

क्या कहती हो यह माता! तुम,
यह मेरे लिए पहेली है,
क्या हुआ तुम्हें है आज, कौन-
सी सूझी यह रगरेली है?

कुछ और पास में खिसक
निकट आ,—स्कंधों पर धर भुज मृणाल,
बोली सैम्राज्ञी, "बतलाओ
संकुचित बन रहे क्यों कुणाल?

है एक भार मेरे उर में वह
हलका करने आई हूँ
'कुछ मन की सुनने आई हूँ
कुछ मन की कहने आई हूँ।'

ये प्रश्न किये मैंने तुमसे,
कुछ करने को संकेत आज,
कितने भोले, तुम समझ नहीं
पाये मेरा अभिप्रत आज?"

क्यों, देख रहे हो यह मैंने
युगयुग में नव शृंगार किया?
अपना स्नेही मन मुग्ध बना,
इन चरणों में ही वार दिया।

उस दिन, जब मैंने अभिनय में,
तुमको नट-रूप धरे देखा,
मेरे मन के घन में सहसा
चमकी नवसुरधनु की रेखा;

तब से निर्धूम लिये ज्वाला
विक्षिप्त बनी मैं फिरती हूँ,
जिसकी कोई पतवार नहीं
उस स्वर्ण तरी-सी तिरती हूँ।

मैं तो अपने अंतरतम का
सौरभ पराग धर चरणों में,
उत्कंठित देख रही मुख को,
उत्तर आता किन वरणों में?

मर्माहत-से थे अब कुणाल
श्रद्धानत प्रणत बने अस्थिर।
"आर्य! तुम हो जननी मेरी,
सोचो तो, क्या कहती हो फिर?

कैसे यह साहस हुआ तुम्हें,
माता! अब राजभवन जाओ,
कुछ पूजन भजन करो जिससे,
हलचल में परम शांति पाओ।"

इस उत्तर से यों मर्माहत,
जैसे तुषार से हत नलिनी,
वह मूक पंगु-सी बनी रही,
क्षति विकृति हुई, कुछ कृति न बनी।

पीकर आंसू के घूंट, रक्त के घूंट
गरल के घूंट, शांत,
निर्जीव शिला की मूर्ति-सदृश
वह खड़ी रही, नीरव नितांत।

कुछ कहा नहीं सम्राज्ञी ने,
खा करके व्रण में तीक्ष्ण वाण,
चल पड़ी बिना कुछ कहे सुने,
करने को अपना मान-त्राण।

आंखों में था घन अंधकार,
पदतल बिखरे थे अग्निखंड,
वह चलती थी अंगारों पर,
ले करके जलते प्राणपिंड।

सोचने लगी इस घटना का
कैसे होगा अब समाधान,
अपमान, घोर अपमान,
किस तरह, होगा अब इसका निदान!

अपमान प्रार्थिता नारी का,
फिर मगधदेश-सम्राज्ञी का,
जागरित हुआ दुर्भाग्य घोर
है आज किसी हतभागी का।

जो मैं न करूँ प्रतिशोध,
मुझे धिक् है अपने इस जीवन पर,
अबला नारी हूँ नहीं—बनेंगी।
शासक वह अब त्रिभुवन पर।

इतना है रूप - गर्व किससे,
इसका दूंगी मैं दृढ़ उत्तर,
तब होगी हृदय शांत ज्वाला,
चुप कर दूंगी दंभी का स्वर!

सुलगेगी अनल उरस्थल में,
बड़वानल ऊपर जल लेकर!
यह ज्वालामुखी फटेगी तब,
कंपित होगा भूतल, अम्बर!

इस मौन-प्रार्थना का उत्तर
होगा भविष्य में मौन मंत्र,
विध्वंस नाश इसका बदला
कितने ही करने पड़ें तंत्र।

अनुताप

'ना' निराशा की गिरा से विफल व्यथित अधीर
गिर पड़ी आ सद्म में, ले लगा व्रण में तीर,

धधकने रह रह लगी, उर-अतल में निर्धूम
छिपी स्तर में एक पावक, रक्त कण कण चूम

क्यों उठी यह प्रार्थना, क्यों वासना की बीन?
बजी मेरे उर-अजिर में, प्रणय रँग से लीन?

कौन मदिरा पी चुकीं, पलकें विमुग्ध अजान,
उचित अनुचित का जरा भी कर न पाईं ध्यान!

मूढ़ मैं क्यों बन गई, एकांत ही चुपचाप,
व्यक्त करने चली अपना स्नेह अपने आप;

पाप है यह पूर्व संचित था कि अविदित शाप ?
नियति निष्ठुर ले गई, या गहन भावी ताप !

काम ने ही पुष्प-शर से, किया दृग को अंध,
रूप गंध विमुग्ध भ्रमरो न वहा सम्बन्ध !

ले रहा प्रतिशोध है किसका विकल आघात ?
उमड़ता उर-सिन्धु में किस वज्र का संघात !

क्यों न मैंने ही स्वयं इस विष-विटप को तोड़ ?
उर-अजिर से हटाकर, फेंका दूर मरोड़ !

पालती मैं ही रही, नित ढाल लोचन नीर,
अमर बेलि, सुखा दिया, जिसने समृद्ध शरीर।

क्या न है इन चपल-चंचल दृगों का सब दोष ?
और की मणि लूट भरना चाहते निज कोष !

आह ! यह मैंने किया, कितना बड़ा व्याघात ?
कांचना यदि जान लेगी, क्या न हो उत्पात ?

दोष किसका, नयन का, मन का, कि दैव-विधान ?
किया क्यों यों पास इतने रूप का निर्माण ?

प्रश्न थी मैं ही स्वयं, उत्तर स्वयं अनजान,
हो गई तन्मय न दुविधा का रहा कुछ ध्यान !

बो चुकी हूं बीज अपने पाप का यह आज,
फल न जाने कब लगे, ले लूट सारी लाज!

हा! विधाता आज भी यदि यह व्यथा हो शांत,
हो बड़ा उपकार मेरा, बढ़े अघ न नितांत!

अन्यथा, इस पाप के ही आवरण के हेतु,
कौन जाने बांधने कितने पड़ें छल-सेतु?

एक पातक को छिपाने के लिए अनजान,
मूढ़ मन जाने न कितने तानता है तान?

नयन क्यों विधि ने रचे ये? मोह-ममता-मूल,
यह न होते तो न बनता रूप भी यों शूल!

अब स्वयं भगवान ही जाने अदृष्ट भविष्य,
कौन जाने क्या न देना पड़े मुझ हविष्य!

मूर्ति बन अनुताप की, फिर पाप की बन पूर्ति,
व्यथित रानी, उड़ गई सब स्नेह सौरभ स्फूर्ति!

स्नेह-सागर था जहां लहरा रहा गंभीर
घृणा का पर्वत वहीं पर खड़ा लिये शरीर

आज बहती है जहां पर मलय मारुत मन्द,
कल वहीं, चलता भयानक विषम आंधी-छन्द;

विश्व के वैचित्र्य का भी है अगम इतिहास,
रात-दिन से जहां रहते घुले आंसू-हास।

प्रतिशोध

क्यों दहक रहा मन बना अनल?
अब तक न हुआ है यह शीतल!

अब तक न हुई है तृषा शांत,
चेतन अब तक है बना भ्रांत;
आंखों के नभ में घिरा ध्वांत,
देखने न देता भाग कांत;

कैसी ज्वाला में यह जल-जल?
हो रहा क्षीण जीवन-संबल!

किस ज्वाला का यह बाष्प घूम
रह रह पलकों को रहा चूम?

आकुल व्याकुल हो रही दृष्टि,
धूमिल-सी लगती निखिल सृष्टि;
किस अंजन की हो रही वृष्टि,
ले गया हाथ की कौन यष्टि?

दुर्बल में गिरती घूम घूम
कैसी उठती यह व्यथा झूम?

अब इस पीड़ा का क्या उपाय?
जिससे अंतस की कसक जाय,

है गड़ा अतल में मौन शूल
की मैंने कितनी बड़ी भूल?
पकड़े जाकर वे चरणमूल
सधु क्या जो दे सकते न धूल!

अनुताप कह रहा हाय हाय!
हो चली राख यह कनककाय!

मैं भी तो थी कितनी अजान,
मांगा जो उनसे प्रणयदान

कुछ भी न मुझे क्यों हुआ बोध,
पहले की इसकी कुछ न शोध
अब विफल विनय पर सफल क्रोध
मेरी गति का कर रहा रोध;

जब कुसुमायुध का लगा बाण
हो गये विसर्जित क्यों न प्राण!

होने दूँगी क्या कथा मुखर?
'मैं उपेक्षिता नारी कातर!'

क्या नहीं कहेगा कभी समय?
मैंने था अर्पित किया हृदय
पर प्रियतम था मेरा निर्दय,
लौटे रीते ही कुम्भ निलय,

तब तो होगी यंत्रणा प्रखर
मैं सह न सकूँगी वह वासर!

क्यों करूँ न वाणी वही मूक?
जो करती है उर टूक टूक

फैलाकर अपना इन्द्रजाल
भेजूं इस कंटक को निकाल
उस प्रलय गर्भ में जहाँ काल
फेंकता न अपनी किरणमाल

तब तो कसकेगी नहीं हूक
मुझसे कितनी हो गई चूक!

ममता कहती है 'मान मान,
निर्मम हो इतना हठ न ठान;'

पर, घाव कह रहा, 'पुनः भूल?
अपने पथ पर फिर रख न शूल!'
कह रही लाज, 'मर जलधिकूल
प्रक्षालन कर या पंकमूल',

मैं सोच न पाती, थका ज्ञान,
इस दुख से कैसे मिले त्राण?

मैं निर्झरिणी, पत्थर हूँगी
अपने हाथों से विष दूँगी

ऐसा चालित मैं करूँ चक्र
ऋजु ग्रह बन जायें सभी वक्र;
कंपित हो भय से स्वयं शक्र,
जीवन का मधु बन जाय तक्र!

मैं इस छल का बदला लूँगी,
प्रतिहिंसा बनकर बधकूँगी।

बोले अशोक आकुल वाणी;
क्यों हो भू में लुंठित रानी,

हैं धूलि-धूसरित बने केश,
क्यों आज तुम्हारा मलिन वेश?
है छिपा अतल में कौन क्लेश?
जो यौवन-श्री कर रहा शेष,

(३१) सूझी है कैसी नादानी?
क्यों अशिव वेश यह कल्याणी!

वह पहले का शृंगार हार
क्यों दिया आज तुमने उतार?

आंखों का वह मधुमय पराग
सूखा-सा बन बैठा विराग
औ' मस्तक का कुंकुम सुहाग
दिखलाता हो जैसे विहाग।

मणि कंकण भूषण अलंकार
उत्सर्ग कर दिये क्यों अपार?

कोमल कपोल की वह लाली
खो गई कहां वह मधुप्याली ?

अधरों का मधुमय मंद हास
है आज नहीं पाता विकास,
वेदना-व्यथित बह रहे श्वास
किस व्रण के गोपन का प्रयास ?

कैसी नीरव पीड़ा पाली ?
क्यों क्रूर बनी भोली भाली !

बोली रानी,—मन है उदास
सब विफल हुए मेरे प्रयास !

चिर दिन चरणों का कर सेवन
तन मन धन जीवन कर अर्पण
पा सकी आर्य का किंतु न मन,
सब हुए व्यर्थ ही आयोजन।

फिर क्यों न चित्त हो यह निराश,
हो गया आज जीवन हताश !
बोले अशोक,—मैं क्या कर दूं ?
क्या संपति चरणों में धर दूं ?

जिससे हो मन का क्षोभ नष्ट
बोलो लिख दूं मैं वही पृष्ठ
हूं मूढ़ न पाया समझ कष्ट
समझूं भी तो कुछ बात स्पष्ट;

प्रियतमे. कहो, मैं क्या कर दूं ?
जिससे मन की पीड़ा हर लूं !

अधरों में छाया मन्द हास
रानी उठ, कुछ आ गई पास;

बोली, क्या दोगे वर नरेश?
जिससे न रहेगा कहीं क्लेश;
कितने उदार, सहृदय विशेष,
सचमुच महान तुम मगधेश,

दोगे वर या परिहास, हास,
बोली फिर रानी कुछ उदास!

बोली रानी, क्यों जीवनधन,
क्या स्मरण तुम्हें, संकट के क्षण?

तुम रुग्ण पड़े दुर्भाग्य हाय!
कुछ था न सफल औषध उपाय!
मैं ही विगलित कर प्राण-काय,
कर सकी तुम्हारी तब सहाय!

तुम हुए स्वस्थ सुन्दर शोभन,
दो पुरस्कार का वह अब धन!

जो मुझ पर है इतनी करुणा,
तो अपनी प्रीत करो अरुणा!

सप्ताहमात्र के लिए राज,
करने दो मुझको महाराज!
कौतुक कौतूहल चपल आज,
पहनूं मैं भी यह स्वर्ण-ताज,

है जगी यही तृष्णा तरुणा
बह रही कामना की वरुणा

बोले अशोक, बस यही साध,
तो लो तुम राज्य करो अबाध!

बस, इतने ही के लिए रोष?
भर गया तुम्हारा रिक्त कोष,
इसमें न तुम्हारा रंच दोष,
जानतीं उमंगें नहीं तोष,

स्वप्नों ही में है सुख अगाध,
है सत्य न उतना सुखद आध!

था आज हर्ष का प्रथम प्रात
बहती थी सौरभ लिये वात—

सम्राज्ञी हो आसनासीन,
खिल उठी शक्ति पाकर नवीन,
बज उठी हृदय की बंद बीन,
अब क्या अशक्य, क्या कार्य दीन?

था कसक रहा उर पदाघात
कहता था गुप चुप एक बात;
'जो करना हो, सो कर लो अब,
अपने घावों को भर लो अब!

अवसर है यही, यही सुयोग,
प्रक्षालन कर लो हृदय रोग,
छोड़ो करुणा का अबल ढोंग,
निष्कंटक हो ऐश्वर्य भोग!

जलनिधि तरना हो तर लो अब,
जो निधि धरना हो धर लो अब!'

बस, हुआ तरंगित यह विचार
निर्मूल शोक हो अब अपार

जिससे विस्मृत हो वज्राघात,
जिससे अतीत का हो निपात,
वह राज्यशक्ति, वह उपोद्‌घात,
जो कर सकती है दिवस, रात;

क्यों आज न वह राज्याधिकार
उपयोग करूँ? हट चले भार!

(५८) लिखने बैठी वह छद्म लेख,
ज्यों नियति खींचती निठुर रेख,

आकृति थी उसकी बनी क्रूर
सिंहनी जिस तरह झपट दूर
मृगशिशु पर कर-नख घूर घूर
करना चहती हो उदर पूर

रहकर अदृष्ट से चिर अदेख,
लिखने बैठी वह छद्म लेख!

"हे कुल-कलंक, कुल-अरि, कुणाल,
खुल गई आज सब छिपी चाल!

यह राजाज्ञा है राज्यदंड,
परिपालन हो इसका अखंड;
षड्‌यंत्र किया इसने प्रचंड
हो मौर्यशक्ति जिससे विखंड,

दोषी के दोनों दृग निकाल,
निर्वासित कर दो, राज्यपाल!"

"कर दो, फिर, इसका भी प्रबंध,
मगधेश्वर भी बन जाय अंध,

भेजो अमात्य यह समाचार,
कांचन कुणाल विरक्त धार,
तज तक्षशिला- गृह, राज्य-द्वार,
अज्ञात गये वन को सिधार,

घर लाय ऐसा ही निबंध,
फैले मेरे यश की सुगंध!"

थे दृग से झरते अग्नि-खंड
लोहित थे ज्यों हिंसा प्रचंड

हो गई भ्रकुटि कुछ और वंक,
लिखते ही लिखते चार अंक
कर कंपन, अचल, अविचल अशंक
लेखनी तिरोहित पाप पंक!

यात्रा का था यह कठिन खंड
थे उद्वेलित से प्राणपिण्ड!

अब था आनन का कृष्ण रंग
जैसे प्रस्फटित हुआ कुढंग!

अधरों से उठती तीक्ष्ण भाप,
सह सकी न जिसको स्वय आप,
प्रत्यक्ष खड़ा हो गया पाप,
पल भर वह भी थी उठी कांप,

फिर, सावधान कर स्खलित अंग
वह उठी पत्र को लिये संग।

चर को दे करके पत्र हाथ
बोली, लो कोई तुम न साथ,

अविलंब अभी ही सावधान!
करना है तक्षशिला प्रयाण,

मंत्री को करना यह प्रदान,
अनिवार्य कार्य है यह महान!

संदेश सभी कर आत्मसात
चर चला, पत्र ले विनत-माथ।

चर

चर ले आज्ञापत्र चला मन में सकुचाता,
यह मेरे ही हाथ पाप था लिखा विधाता!

किया कौन-सा कर्म? मिला यह जिसका बदला,
निर्दोषी के लिए मृत्यु का पाश ले चला!

दासवृत्ति भी है कितनी यह चेतन घातक?
करना पड़ता सभी, पुण्य हो चाहे पातक!

कुछ अपना अधिकार नहीं, 'हाँ' 'ना' करने का,
धर्म एक ही जो आज्ञा, शिर पर धरने का।

पशु-जीवन से अधम ! चेतनामय यह जीवन।
जान-बूझकर जहां सभी करना है तत्क्षण !

कितनी नियति कठोर ? नहीं कुछ वश है अपना,
लाद शीश पर शिला, हमें आजीवन हँफना !

पर संभव क्या नहीं, न आशा ही ले जाऊं ?
दे दूं अपने प्राण, आर्य के प्राण बचाऊं।

किन्तु, आह ! विश्वासघात मुझसे न बनेगा !
अनुचर का यह कपट और, अघ अधिक तनेगा।

सेवक का कर्त्तव्य, कार्य सेवा का करना,
स्वामी के संतोष कोष को श्रम से भरना;

पराधीनते ! सर्वनाश हो तेरा जग में !
कुछ न सोचने देती, तू मानव को मग में !

दस्युवृत्ति से श्रेष्ठ बहुत है भूखों मरना,
परवश होकर नहीं किन्तु वैतरणी तरना;

पर क्या करूं उपाय ? आह ! कुछ मार्ग नहीं है,
दूं चल आज्ञापत्र, शेष अवलंब यही है !

तक्षशिला है कहां ? पाटलीपुत्र कहां है ?
यात्रा भी है अधिक पहुंचना शीघ्र वहां है !

विश्वंभर ! इच्छा बलीयसी रही आपकी !
मानव कब कर सका समीक्षा पुण्य-पाप की ?

जो स्वीकृत हो तुम्हें वही मुझको स्वीकृत है,
स्वामी रहें प्रसन्न, यही सेवक का व्रत है!

कितना आह अधर्म! धर्म पर जो चलता है,
उसको ही दुर्दैव दुःख से भी दलता है!

तिष्यरक्षिता भी है कितनी चक्रचालिनी?
अधरों में है अमृत, किंतु है स्वयं व्यालिनी!

कूटचक्र, षड्यंत्र, कभी तो यह टूटेगा,
कालकूट का कुंभ उसी के सिर फूटेगा!

नहीं पाप का घट जब तक ऊपर तक भरता,
उतराता है नहीं, न कोई उससे डरता;

यह अदृष्ट से छिपा कार्य करती अनार्य है,
क्या उसका भी धर्म नहीं कुछ भी विचार्य है;

धर्म-अधर्म समस्त भार, उस पर ही छोड़ूं,
यह विचार-शृंखला क्यों न मैं अपनी तोड़ूं।

हां! अशोक भी पूर्वशाप से ज्यों अभिशापित,
देख न पाते क्या रहस्य घर में संचालित।

यह ममता का रंग, ढंग अभिनव गढ़ता है,
यौवन से भी अधिक, जरा पर यह चढ़ता है;

होता मानव वृद्ध, विरस, तब रस के कण को,
दौड़ पकड़ता जैसे डूबा पकड़े तृण को!

तिष्यरक्षिता का उज्ज्वल नक्षत्र चमकता,
आज किसी का और राग है नहीं गमकता।

किन्तु मूढ़ मैं कितना? उलझा हूं उलझन में,
ढूंढ़ रहा आनन्द समस्या की सुलझन में।

तन ही हूं आधीन, किन्तु मन तो स्वतंत्र है,
वह अपना ही पढ़ता रहता महामंत्र है!

नहीं किसी न अब तक उसको वश कर पाया,
उसन अपना मेघमंद्र रव सदा सुनाया!

क्यों महेन्द्र को भी कुणाल की याद न आती?
है बुझने सी लगी स्नेह चुकने पर बाती!

किन्तु, आह! क्या सभी स्नेह का सूखा सोता?
स्वार्थ एक ही मात्र स्मरण का बन्धन होता?

महामात्य मंत्रीगण, सबने मदक पिया है,
सावधान कोई न यहां पर आज रहा है!

यह विधि का ही व्यंग्य, नियति की ही यह छलना,
माता सुत के लिए सजाती विष का पलना!

चारुमती को भी न कांचना की सुधि आती,
पर, उसको क्या ज्ञात? दैव इतना संघाती!

किंकर्तव्य-विमूढ़, गूढ़तम व्यथा छिपाये,
चला विवश चर, दीन-हीन चेतना गंवाये!

क्षत-विक्षत करती थीं रह रह विषम तरंगें,
पीछे थीं पद खींच रहीं उर उमड़ उमंगें;

श्रान्त वदन मुख क्लान्त, भ्रान्त चित कुछ श्रमसीकर
छलक उठे थे तप्त भाल पर, दुख से कातर!

पोंछ उन्हें औ' विरल अश्रु से पोंछे लोचन,
दृष्टि बनाकर स्वच्छ चला, करता अनुशोचन;

गये दिवस कुछ बीत, पंचनद पर वह आया,
तक्षशिला भी संध्या होते-होते पाया।

देख प्रधानामात्य दंतमुद्रा से मुद्रित!
पत्र खोल अविलम्ब लगा पढ़ने चिंतित चित!

धक से उर हो गया, न कर से कागद छूटा,
हा! किसने दुर्भाग्य! मौर्यकुलमणि को लूटा?

हुआ नहीं विश्वास नयन पर उसको अपने
सोच रहा यह सत्य, देखता हूँ या सपने?

पुनः पत्र कर में ले साहस को समेट कर
पढ़ने लगा सभीत यत्न से अक्षर अक्षर,

स्वामी, शासक, बन्धु, सुहृद, सहृदय, कुणाल के,
नेत्र काढ़कर भिजवा दू आदेश पाल के;

हैं इसमें षड्यंत्र, तंत्र कुछ काम कर रहा!
हो कोई भी चाहे इसमें मंत्र भर रहा?

सोच रहा होगा, निष्कंटक राज्य करूँ मैं,
अधिकारी का स्वत्व छद्म के प्रथम हरूँ मैं ?

या कि सत्य ही है अशोक ने आज्ञा भेजी ?
हो पालन अविलम्ब, इसी से इसे सहेजी !

उन-सा स्नेही न्यायशील, जनता का पालक,
कौन दूसरा अन्य, शांति-समता-संचालक,

जन-सेवा में लीन जिन्होंने विभव न चाहा,
सबसे सरल स्वभाव, बन्धु-सा स्नेह निबाहा !

सर्व विभव संपन्न, बने हैं फिर भी त्यागी,
स्वामी भी हों नित्य लोक-सेवा-अनुरागी !

स्तब्ध, ज्ञानहत, श्रीउदास, व्याकुल हो मन में,
पहुँचे मंत्री हो अधीर तब राज्य-भवन में।

अचल मूर्त्ति-सा खड़ा समझ कुछ बात न आई,
'मंत्रीवर ! क्या बात ?' गिरा गम्भीर सुनाई !

शुष्क अधर था और कंठ था मानो घुटता
कह न सके कुछ बात, प्राण था जैसे छुटता;

मौर्यश्रेष्ठ उपराज ! पत्र पाटलि से आया,
यह लें कर में आप, अभी चर इसको लाया;

ले कुणाल ने पत्र ध्यान से उसको देखा,
मुखमंडल पर खिंची एक नव स्मित की रेखा;

इकटक

बोले 'यह राजाज्ञा है, इसका पालन हो,
इसी प्रकार, कलंक मौर्य का, प्रक्षालन हो!

राजाज्ञा, फिर पूज्य पिता की है यह इच्छा,
यह मेरा सौभाग्य, पूर्ण हो एक सदिच्छा!'

मंत्रीवर जड़मूक पंगु-से खड़े अचल थे,
लकवा-सा लग गया, बुद्धि के अणु दुर्बल थे;

आनत करके शीश, कृतांजलि करके अर्पित,
बोले क्या कह रहे? धैर्य हो रहा न संचित!

'है इसमें षड्यंत्र, तंत्र कुछ, छिपा भेद है,
इससे होता शोक, इसी का मुझ खेद है!

आप सरलचित, धीर वीरवर श्रेष्ठ आर्य हैं,
इसी लिए कुछ सोच न पाते कलुष कार्य हैं।'

'इसी राज्य के लाक्षागृह में कितने ही नर?
निरपराध ही झोंक दिये जाते हैं भीतर!'

'सचिवश्रेष्ठ! सद्भाव तुम्हारा जान रहा हूँ,
यह मुझ पर आभार तुम्हारा, मान रहा हूँ!

'आज्ञा पालन करो, यही मेरी भी आज्ञा,
उल्लंघन में दंड लिये फिरती राजाज्ञा।'

मंत्रीवर निस्तब्ध, पड़ रहा हो हिम जैसे,
शोणित शीतल बना, खड़े थे वे जड़ ऐसे!

कह न सके कुछ अचल रहे क्षण भर से मूच्छित
आया चेतन, बोध हुआ, तब हुए व्यवस्थित,

आर्यपुत्र ने कहा, न आज्ञा हो अपमानित,
देना होगा, तुम्हें स्वयं शिर फिर इसके हित!

दिन में आई रात्रि, प्रलय के गीत सुनाती,
धूमिल छाया तक्षशिला में थी मंडराती,

क्रूर नियति ने ली निकाल अंबुज-सी आंखें,
उड़े न ऊपर प्राण, रह गई कंपती पांखें,

उन आंखों की कथा, व्यथा बनकर मंडराई
एक अछोर वेदना बन प्राणों में छाई।

कांचना तथा तक्षशिला वासियों का करुणाविलाप यहाँ करुणा रस के लिये नितान्त आवश्यक था नहीं किया गया।

निर्वासन

निर्वासन के लिए हुए जब
उद्यत प्रस्तुत शांत कुणाल!
आ पहुँची कांचना कुमारी,
खड़ी चरणतल में नतभाल!

क्या कहती हो? प्रिये! विकल क्यों?
तुम जा करके पाटलिपुत्र,
सुख से रहो वहीं पर, गृह में,
सुख-सुविधा तो है सर्वत्र!

निर्वासन का दण्ड मुझे है,
नहीं तुम्हारा कुछ अपराध,
फिर वन में चलने की कैसी
पगली यह ठानी है साध?

बोली गद्गद कण्ठ कांचना, नाथ,
तुम्हारा तब कब साथ
कहां सुखी होगी यह दासी
छोड़ तुम्हारा पावन हाथ।

पाणिग्रहण था किया किया था,
तब तो तुमने ही संकल्प
कभी तजोगे इसे नहीं तुम,
कुछ भी सुख-दुख का हो कल्प!

कैसे तुम्हें छोड़ सकती हूं?
प्रियतम! इस भीषण दुख में
मैं गृह रहूं सुखी हो, औं' तुम
जाओ कानन के मुख में?

नाथ असम्भव है यह सब कुछ,
संग चलूंगी मैं निश्चय!
मना कर सकोगे न पुनः तुम,
मैं दुख में हो गई अभय!

मना नहीं करता सुकुमारी!
कहता किन्तु धर्म की बात,
मैं हूं पुरुष कठोर कर्म से,
तुम कोमल जैसे जलजात!

युद्ध किये हैं मैंने अगणित,
वज्र हो गई है यह देह !
सुख से सह सकता बाणों को,
फिर क्या धूप, शीत, या मेह ?

कभी नहीं निकली तुम गृह से,
तुम गृह दीप-शिखा प्यारी !
झंझा से तुम लड़ न सकोगी,
दुर्बल हो, तुम हो नारी !

'प्रियतम, मैं दुर्बल निर्बल हूँ,
तुम बालक्रू हो. यह सच प्राण !
किन्तु, समय पर, कलिका भी
हो सकती निश्चय वज्र-समान !

मैं सिर आँखों पर ले लूंगी,
जो भी होगा दुख का भार,
किन्तु, अकेले कभी न जाने
दूंगी तुमको प्राणाधार !

पर्वत हो, घाटी, वन उपवन,
सदा रहूंगी अनुगामी,
पाओगे पदपास सदा ही,
दासी को मेरे स्वामी !'

अधिक कह सके कुछ न कंठ से,
हुए कुणाल शोक से मौन,
कहा, 'चलो यदि नहीं मानती,
धन प्रिय तुम्हें, न सुखप्रद भौन !'

ज्यों भिखारिणी को मिल जावे
किसी रत्न का अनुपम दान
हुई कांचना प्रमुदित जैसे
दरिद्रणी हो बना महान!

जिस दिन थे कुणाल चलने को
करन को गृह से प्रस्थान
साथ कांचना भी प्रस्तुत थी
निर्वासन का आया ध्यान,

सेनाधिप, सरदार, प्रजा सब,
शोकातुर, व्याकुल, कातर,
आये देन विदा. उस समय
उमड़ा करुणा का सागर;

अब कुणाल थे नहीं प्रजापति
स्वेच्छा से समस्त अधिकार,
त्याग दिया त्यागी न तृण-सा
हलका हुआ हृदय का भार!

फिर भी मना रहे थे मन्त्री
दुख से हो-हो अधिक अधीर,
कुछ न कहा जाता था मुख से
दृग से बह-बह आता नीर!

कैसे कहें बिदा करते हं ?
हृदय हो रहा था, दो टूक,
कंठ रुद्ध था. हृदय रुद्ध था,
वाणी पंगु, बनी थी मूक;

फिर ऐसा व्यवहार स्नेह का
सभी बने मन से आधीन,
इस बन्धन में प्रेम-रज्जु के
पाते वे सुख नित्य नवीन;

खड़ी शोक-कातर सब सेना
सेनापति लेकर संन्यास,
चला सदा के लिए राज्य से
करने को अब दूर प्रवास!

किसी किसी सैनिक के उर में
उमड़ा महा ज्वार-सा रोष,
गरज उठा 'यह ठीक नहीं है
यह है महाराज का दोष!'

'राजकुमार आप मत जायें
ऐसे कायर बनकर दीन,
अवसर दें यदि हमें आज भी
हम लावें सिंहासन छीन।'

'दूर देश में पड़े हुए हैं
नहीं आपको कुछ भी ज्ञात,
कूट यन्त्र, षड्यन्त्र कहीं हो
रचा किसी ने यह अज्ञात!

और बन्धु भी कई आपके
क्या जाने उनका ही चक्र
वक्र बना यह घूम रहा हो
निश्चित कोई गूढ़ कुचक्र!

किया आपने अरिदल-मर्दन
एक-एक से धीर महान,
क्यों न युद्ध को एक बार फिर
मिलकर करें आप अभियान ?'

थे कुणाल गंभीर सिन्धु-से
अटल अचल जैसे हिमवान,
टले न अपने निश्चित व्रत से
शांत हुआ तब क्रोध महान !

राजकुमार मंद्र घन रव में
बोले गिरा धीर गंभीर
'शासक हूँ मैं नहीं आज से
फिर भी, आप न बनें अधीर !'

राजाज्ञा का मान यही है
यही पितापद का सत्कार
मुद्रित मुद्रा देख असंशय
दण्ड करूं सुख से स्वीकार;

आज्ञा है सम्राट उन्हीं की
जिनका है यह राज्य विशाल,
वंदित नंदित हुए दस्यु दल
चरण धूलि को धरकर भाल;

यदि मैं करूं अवज्ञा उनकी
तो फिर क्या होगा कल्याण ?
उद्धत होंगे और क्षुब्ध अरि,
होगा विप्लव का आह्वान !

क्या जाने अपने ही कुल की
यह छोटी-सी चिनगारी,
भस्म न कर दे, चिर तप अर्जित
यह विशाल सत्ता सारी !

केवल अपने स्वार्थ-हेतु
दो दिन जीवन के लिए अशेष,
यह कलंक लगा न शीश पर
कितने दिन जीवन अवशेष ?

फिर, मेरे भी बन्धु सभी हैं
मुझे प्राण से भी प्रिय नित्य,
वे षड्यन्त्र करें जीवन में
यह मिथ्या है बात असत्य !

अब न कभी दुहराना मुख से
ऐसी पापमयी यह बात,
पुण्यशील वे, स्नेहशील वे,
न्यायशील वे मुझको ज्ञात !

आज्ञा शिरोधार्य करके यह
मुझको अब चलना होगा,
स्नेह, कृपा, अनुकंपा, यह
सम्बन्ध सदा छलना होगा !

आप नहीं कुछ भी अब सोचें
तभी हो सकेंगे निश्चिन्त,
शोक करेंगे आप; न मेरे
दुख का कहीं मिलेगा अंत !

यह ममता का गहरा अंचल
और न कर आप विस्तार,
मैं हूँ दुखी, सुखी हों
इससे, यही एक है अब निस्तार!

चुप हो गये सभी सैनिकगण,
व्यथित हृदय पर बाणी मौन,
था किसमें साहस ही इतना
कहता फिर, 'प्रभु तज न भौन!'

थी कांचना खड़ी करुणा-सी
छाया-सी होकर अम्लान,
जैसे हो प्रतिबिम्ब दूसरा
यह कुणाल का ही द्युतिमान!

उसकी नीरवता दुहराती
थी कुणाल ही की क्यों बात
लज्जाशील आर्य-ललना का
यह चरित्र है किसे न ज्ञात?

मूर्तिमंत वह खड़ी रही
चित्रित-सी शिल्प-कला सी रम्य
यह पत्नी की नीरवता है
समझी गई शिष्टता क्षम्य!

फिर भी वह बोली कोमल स्वर!
दीन गिरा थी, कंठ अधीर
'भूले नहीं आप सब हमको'
बहा और भी दृग से नीर!

इतने दिन हम रहे यहीं पर
परजन परिजन स्वजन समान
स्नेह किया हम पर सबने ही
कभी न भूले इसका ध्यान !

हमसे आज्ञावश स्वधर्मवश,
जो कुछ भी हो गया प्रमाद
क्षमा करें इस विदा-घड़ी में
देवें अपना स्नेह-प्रसाद !

पुरवासी, दर्शक एकत्रित,
जनमण्डली शोक-संतप्त,
लगे डूबने अश्रु-सिंधु में
कर न सका कोई कुछ व्यक्त;

एक-एक करके कुणाल फिर
सभी वहीं पर वस्त्र उतार
रखने लगे नित्य ही जैसे
जैसे उतर रहा हो भार !

राज्यमुकुट को ले मस्तक से
सचिव श्रेष्ठ के कर में धर
राज्यदंड भी दिया हाथ में
शीश झुकाया फिर सादर !

झुकी साथ ही अचल
प्रार्थना-सी कांचना कुमारी भी
सावित्री बन रहनेवाली
सत्यवान की नारी भी !

जनसागर में उठा पुनः अब
नये अश्रुजल का गुरु ज्वार
लगा डूबने उतराने-सा
क्षण-जग विकलनिखिल संसार !

सेनाधिप ने शीश झुकाया
झुका और भी सभी समाज
खड़ी कांचना औ' कुणाल थे
नल-दमयंती जैसे आज!

कानों के कुण्डल उतारकर
भुज से कंकण दिया उतार
शिर से स्वर्णकिरीट उतारा
कर से स्वर्ण दंड सुकुमार;

एक-एक हीरक मालायें
मरकत, नीलम, माणिक, लाल
खोल-खोल अपने शरीर से
देने लगे भूमि पर डाल!

रह न गया कह उठे लोग कुछ,
'क्या करते यह राजकुमार ?
इन पर तो अधिकार तुम्हारा
इन्हें छोड़ते ? यह भी भार ?

इन्हें साथ में रखें आप तो
यह उपकार रखेंगे नाथ !
यही हमारे प्रतिनिधि होंगे
दुख में देंगे अपना हाथ !'

राजकुमार न किन्तु सुन सके
समर रव था, अस्फुट बोल
एक-एक कर, तिल-तिल करके
दिये रत्नकण सारे खोल !

उत्तरीय था अधोवस्त्र भी
लगा बदलने जहां कुणाल,
हाहाकार मचा जन-जन में
मूर्च्छा-सी छा गई अपार !

साधारण कौपीन दीन-सी
पहन खड़े अब राजकुमार
यह भिक्षुक का वेश देख
कांचना न निज को सकी संभाल !

टूक-टूक हो गया हृदय था,
फूट-फूट रोई चुपचाप
'आह ! विधाता ! सर्वनाश यह
किया ! कौन था मेरा पाप ?'

भिक्षापात्र लिया कुणाल ने
जैसे राजदंड सस्नेह
उनका यह सन्तोष देखकर
कुछ-कुछ हटे शोक के मेह !

कहा मधुर स्वर से कुणाल ने
'यह किया मैंने कुछ भी न,
आज तूँ, तो करुणा करके
दे दें मुझको मेरा बीन,

यही बनेगी मेरी जर्जर
नौका की सुखमय पतवार,
मैं भवसिंधु तरूंगा सुख से
यह होगी जीवन-आधार।

दिया बीन लाकर करतल में
तब कुणाल अत्यन्त प्रसन्न
सचिव श्रेष्ठ तब और पास भी
इधर चले आये आसन्न।

भिक्षापात्र कांचना के कर
औ' कुणाल के कर में बीन,
प्रस्तुत दोनों थे चलने को
जनता थी चेतनहत, दीन।

शोक-सिन्धु के महाज्वार को
जैसे करने को ही शान्त,
गान लगा कुणाल गीत तब
मंगलमय रमणीय नितान्त।

विदा-गीत

दो विदा आज अंतिम, प्रणाम!
चलता जीवन का यह चक्र,
ऋजु कभी बना तो कभी वक्र,
मधु बन जाता है तीक्ष्ण तक्र,
भिक्षुक बनता है स्वयं शक्र,
यों ही संसृति की गति-विराम;
दो विदा आज, अंतिम प्रणाम!

इसमें कैसा आश्चर्य - शोक ?
भव की गति है यों ही अरोक,
राज्याभिषेक का दिन अलोक,
उत्सव - हर्षित सब बना लोक,
तब ही वनवासी हुए राम,
दो विदा आज, अंतिम प्रणाम !

भोगा अब तक धन-धरा-धाम,
क्या सुख न मिला मुझको अकाम ?
जीवन-प्रभात था कल ललाम,
तो संध्या आई आज श्याम,
फिर, इसे रहे क्यों रोक-थाम ?
दो विदा आज, अंतिम प्रणाम !

जिनके पद-तल थे बिछे फूल,
होना ही चाहिए वहां शूल;
इसमें न किसी की कहीं भूल,
मिलने दो भव के युगल कूल,
ज्यों सुख त्यों ही हो दुख प्रकाम ;
दो विदा आज, अंतिम प्रणाम !

था कभी स्कंध पर मृदु दुकूल,
तो कंथा भी ले वहां झूल,
जिन दृग ने चूमे सुरभि फूल,
पड़ने दो उनमें पंथ-धूल,
तज दंड, पाणि ले यष्टि थाम;
दो विदा आज, अंतिम प्रणाम !

जो कल राजा, वह आज रंक,
कुल-गौरव जो वह कुल कलंक,
यह परम सत्य लख ले अशंक,
है पिता छुड़ाता स्वयं अंक,
यह पुत्र चला पथ में अथाम,
दो विदा आज, अंतिम प्रणाम !

कोई वर देता मुकुट भाल,
फिर, वही छीन लेता अकाल,
मानव पाकर ही दुख विशाल,
देखता सत्य का शुभ सकाल,
नर नियति-चक्र का क्षुद्र दाम;
दो विदा आज, अंतिम प्रणाम !

जब होता रहता विभव क्षीण,
सब गर्व-दर्प होते विलीन,
तब क्यों न अभी से स्नेह-लीन,
निशिदिन करुणा की बजे बीन,
हो अभय सदा ही नर अकाम;
दो विदा आज, अंतिम प्रणाम !

हुआ सभी दर्शक समाज यों
मधुर गीत के रस में लीन,
भूल गया संताप, सचेतन
बना वृन्द वह चेतनहीन !

पुष्पमाल, अक्षत, चन्दन,
दधिदूर्वा की ले-लेकर थाल,
बढ़ी आरती करने को
जनता आनंदित नंदित भाल!

गीत रचा था नागरिकों ने
अभिनंदन वंदन के योग,
गान लगे उसे सुकंठ से
जो था अवसर के संयोग!

गीत

तुम्हें हो मंगलमय अनुकूल!
न जाना हम कभी भी भूल!
जो भी शूल मार्ग में हों
प्रभु कर दें उनको फूल!

जब पथ में जलती हो काया,
तब घन आकर कर दे छाया,
बनें लता-तरु सखा पथिक के
दोनों आम्र बबूल,
तुम्हें हो मंगलमय अनुकूल!

दूर्वादल का आसन देकर
वसुधा स्वागत करे अंकभर,
निर्मल निर्झर शीतल जल से
धो दे पद की धूल!
तुम्हें हो मंगलमय अनुकूल!

दिन में दिनकर मधु बरसावे
निशि में शशि आ अमृत पिलावे,
पशु-पक्षी हिलमिल कर निशदिन
हों अनरजन मूल!
तुम्हें हो मंगलमय अनुकूल!

धीरे-धीरे पहुंचो पथ पर,
सुख से बैठे जीवन-रथ पर
सफल मनोरथ बने तुम्हारे
हो न कहीं पर भूल!
तुम्हें हो मंगलमय अनुकूल!

सन्यासी

पथ-गीत

आया सुभग सवेरा,
राही !
अब जग की निद्रा है टूटी
अरुण किरण अंबर से छूटी
किया मलय ने फेरा
राही !
आया सुभग सवेरा !
डाल डाल में फूटी कोंपल
स्वर्णिम, ताम्र, नील औ' उज्वल,
किसने रंग बिखेरा ?
राही !
आया सुभग सवेरा !

तुम भी अपनी आंखें खोलो,
कनक-किरण के जल में धो लो;
मन का मिटे अंधेरा
राही !
आया सुभग सवेरा !

कमलनयन ये खोलो
राही !
देखो तो—नभ में रवि आया
कैसी स्वर्ण-प्रभा है लाया;
किरणों में दृग धो लो
राही !
कमलनयन ये खोलो !

जलनिधि में उठ रहीं तरंगें,
ज्यों मानव की महा उमंगें;
तुम मन का बल तोलो,
राही !
कमलनयन ये खोलो !

भर लो यह आलोक प्राण में,
विहगों का रव कंठ गान में,
नव प्रभात बन डोलो,
राही !
कमलनयन ये खोलो !

हरयाली

बोले तरु में काग!
राही!
रात नहीं रे, प्रात आ गया,
अग जग में आलोक छा गया;
उठने लगा विहाग,
राही!
बोले तरु में काग!

आंखें क्यों अब भी मदमातीं?
आंखें क्यों अब भी अलसातीं?
निद्रा तंद्रा त्याग
राही!
बोले तरु में काग!

खगकुल हैं गा रहे भैरवी,
सोरठ में शोभा न वह रही,
जाग जाग उठ जाग!
राही!
बोले तरु में काग!

कैसा मधुमय कलरव?
राही!
बैठे खग देखो दल के दल
डालों में पुलकित हो चंचल,
भव में भरते वैभव,
राही!
कैसा मधुमय कलरव?

लघु लघु कंठों में लघु लघु स्वर
लघु लघु अमृत बूंदों को भर
करते कैसा उत्सव ?
राही !
कैसा मधुमय कलरव ?

मुखरित होते तृण तृण कण कण,
डूब रहे विस्मृति में क्षण क्षण !
बहा निराला आसव !
राही !
कैसा मधुमय कलरव ?

नभ में विहग अकेला
राही !
अपने कोमल पंख पसारे
दूर उड़ रहा क्षितिज-किनारे,
करता नव रंगरेली,
राही !
नभ में विहग अकेला !

कोई साथी साथ नहीं है,
जाना उसको दूर कहीं है;
बीत रही है बेला,
राही !
नभ में विहग अकेला !

लो, आया लाया वह संबल
नीड़ों से आये खग के दल;
लगा हर्ष का मेला,
राही!
नभ में विहग अकेला!

झंझा मचल रहा,
राही!
घिरे हुए हैं नभ में बादल
बरस रहे हैं, उपल, महाजल;
पथ है विछल रहा;
राही!
झंझा मचल रहा!

बिजली कौंध रही क्षण क्षण में,
वज्रघोष हो रहा गगन में,
जाता धैर्य बहा;
राही!
झंझा मचल रहा!

बलि की अरुणशिखा ले पथ में,
तुम भी बढ़ो प्रलय के रथ में,
तो हो विजय अहा!
राही!
झंझा मचल रहा!

आई मदिर सुगंध,
राही!
तन मन नयन प्राण हैं आकुल
कौन दे गया यह सुख संकुल?
मधुप बन रहे अंध;
राही!
आई मदिर सुगंध!

किसकी श्वास मनोरम पावन?
किन प्राणों का है यह रस घन?
लगा स्नेह अनुबंध,
राही!
आई मधुर सुगंध!

कौन बुलाता दे आमंत्रण,
भेज रहा है मौन निमंत्रण,
यह कब का सम्बन्ध?
राही!
आई मधुर सुगंध!

लहरों से क्या मोह?
राही!
दूर दूर अति तुमको जाना,
जहां रश्मि का ताना-बाना,
इनसे कौन विछोह?
राही!
लहरों से क्या मोह?

इनकी अलकें, इनकी पलकें
जिनमें पात्र सुरा के छलकें,
इनकी इतनी टोह ?
राही !
लहरों से क्या मोह ?

चल उस ओर जहां पर अपना
सत्य बना खिलता है सपना;
कर न किसी से द्रोह !
राही !
लहरों से क्या मोह ?

पाल तरी के खोल !
राही !
रह-रहकर हैं लहरें आतीं
भ्रू-भंगों से पास बुलातीं,
फरके अलकें लोल,
राही !
पाल तरी के खोल !

मलयज धीरे धीरे बहता,
मन में मधुर कथा-सी कहता;
यह बेला अनमोल !
राही !
पाल तरी के खोल !

कोई दूर मलार सुनाता,
मन में कैसी मीड़ उठाता ?
खे तरणी जय बोल
राही !
पाल तरी के खोल !

बैठो श्रान्त न पथ में !
राही !
अभी छलक आये ये जल-कण
पोंछो ये मस्तक के श्रम-कण;
रुको नहीं इस पथ में
राही !
बैठो श्रान्त न पथ में !

अभी दूर है तुमको चलना,
निद्रा को न बनाओ पलना,
पड़े न चरण विपथ में
राही !
बैठो श्रान्त न पथ में

आंखों में भर मधुर प्रभाती,
चलो जहां मधु निशा बुलाती;
बढ़ो प्रगति के रथ में
राही !
बैठो श्रान्त न पथ में !

बैठो देख न छाया,
राही!
इस सुख में न कहीं सो जाओ
स्वप्नों में न कहीं खो जाओ
प्रतिपद मोहक माया;
राही!
बैठो देख न छाया,

इस छाया से धूप भली है,
खिलती मन की जहां कली है,
बनती कंचन काया,
राही!
बैठो देख न छाया;

इससे तो तन होगा कोमल,
इससे तो मन होगा कोमल,
खो दोगे जो पाया,
राही!
बैठो देख न छाया,

क्यों तुम आज उदास?
राही!
है मुखकमल म्लान-सा लगता,
कौन व्यथा का दीपक जगता?
अब तो प्रातः पास;
राही!
क्यों तुम आज उदास?

रात गई, मधुमय दिन आया
दिश दिशि में प्रकाश है छाया;
हुआ तिमिर का नाश,
राही!
क्यों तुम आज उदास?

यों ही होगी दूर व्यथा यह,
होगी भूली एक कथा यह,
भर मन में उल्लास,
राही!
क्यों तुम आज उदास?

रहे अधर में गान!
राही!
जहाँ चलो बाजे मधु मुरली,
खिल जाये, निस्पंद उर कली;
हँसे कुंज उद्यान
राही!
रहे अधर में गान!

भूलो अपनी लय में सुख-दुख,
चले चलो निज पथ म सम्मुख;
पुलकित प्रतिपल प्राण!
राही!
रहे अधर में गान!

गाओ वहे मधुर मधु धारा
टूटे जड़-जीवन की कारा,
हो आनंद महान,
राही!
रहे अधर में गान!

तुम कैसे मतवाले?
राही!
सुख के घूंट निरंतर पीते,
दुख के घूंट रह गये रीते?
सध न सके ये प्याले?
राही!
तुम कैसे मतवाले?

फूलों की माला में अगे,
शूलों की माला से भागे;
सह न सकोगे छाले?
राही!
तुम कैसे मतवाले?

मधु का पान किया मुसकाते
विष भी पियो, जियो मदमाते
तब, तुम मेधावाले!
राही!
तुम कैसे मतवाले?

मुझको बड़ी दूर है जाना,
सबन अपनी सीमा बांधी
सब चलते हैं बचकर आंधी,
मेघों में बिजली में घुलमिल
मुझको चरण बढ़ाना,
मुझको बड़ी दूर है जाना,

सबके अपने लक्ष्य बने हैं,
हैं विश्राम, पड़ाव घने हैं,
मेरा पथ उस ओर, अभी तक
जिसका छोर न जाना;
मुझको बड़ी दूर है जाना!

गाते पथ पर गीत मनोरम,
जिनसे बढ़े शक्ति उत्साह
जाते चले कुणाल धीर
गंभीर, अगम था शक्ति-प्रवाह!

जो जीवन में बढ़े इसी विधि,
अधरों पर धर कर मुसकान,
पहुँचे सुख से वही छोर तक,
उन पथिकों का सफल प्रयाण!

हो न कांचना दुखी, सुखी
रखने को उसे दिवस औ' रात,
चिर प्रसन्न रहते कुणाल,
मुख पर खिलता-सा पुण्य प्रभात!

मिले जिन्हें जीवन में ऐसे
बल - विवेकवर्धक सहचर,
श्रम में भी विश्राम उन्हें है,
पथ भी उनको जैसे घर!

सुख भी बन जाता है दुख ही
एकाकी जीवन है व्यंग!
दुख भी बन जाता है सुख ही
कोई स्वजन रहे यदि संग।

प्रत्यागमन

गये युग युग बीत, अनजान पथिक उद्भ्रान्त,
आज निकले मगध-पथ से युगल करुण। कांत
कांचना ने कहा कैसा है, समय का चक्र?
कल खड़ा ऋजु वट जहां था, आज है वह वक्र!

ताम्र, लोहित और लाक्षा से अरुण थे पात
आज जर्जर पत्र वे ही, वृद्ध तरु का गात!
भूमि में आ धंसी स्तर में कुछ जटायें घूम,
श्मश्रु श्वेत विकीर्ण, जैसे रही पदतल चूम;

वहीं कितने ही विहंगों ने बनाये नीड़,
गिरे कुतरे फल तले, कुछ पंख हैं आक्रीड़,
और वह मंदाकिनी है, वही स्वच्छ प्रवाह
पुण्य दर्शन मात्र से मिटती हृदय की दाह!

उठ रही है अर्चना की मधुर कंठ हिलोर
स्नात पुरवासी चले जाते नगर की ओर
किन्तु, पाटलिपुत्र, अब भी है बहुत कुछ दूर
हो गया तन कंटकित, कितनी मधुस्मृति क्रूर ?

'याद है प्रियतम ! यहीं पर कभी हम तुम संग
बैठते पहरों निरखते तरल तुंग तरंग !
आम्रतरु अब भी वही जिसके तले चुपचाप,
बैठते घड़ियों, मुखर बना मधुर आलाप,

यहीं पर हमने बनाये स्वप्न के प्रासाद,
इन्द्रधनु से उन दिनों की क्या न आती याद ?
पर, नहीं है स्फटिक मंच उजड़ गया उद्यान,
चलो, जी है देख लें 'वह आज फिर से स्थान।'

'कांचना, धूमिल घनों-सी स्मृति-पटल के बीच
खुल रही पिछली कथा है स्वेद जल से सींच,
यह समय का स्रोत है, बहता अनंत अगाध,
कल नहीं जो आज है, यह नियम अचल अबाध ?

चलो, चलकर वहीं हम तुम करें फिर विश्राम
जीर्ण-शीर्ण भले रहे वह किन्तु प्रिय निजधाम !'
आज युग युग बाद वे दोनों पथिक उद्भ्रान्त
आम्रतरु के तले पहुँचे, वन सघन, एकान्त,

मंच था जिस पर, वहीं वाल्मीकि-शृंग-सुमेरु,
अब खड़ा था मृत्तिका का मृदुल पांडुर ढेर
था जहां जलकेलि का शुचि स्नान-गृह का कुंज
झुरमुटों औ' झाड़ियों के थे वहां अब पुंज ?

लता-मंडप का दिखाता नहीं कोई पत्र,
द्वार प्रस्तर का अचल था किन्तु फिर भी तत्र
कांचना ने कहा, बैठो—यहीं पर, आ, पास,
यह अचल साथी पुरातन है, मधुर आवास;

श्रान्त थे, मस्तक भृकुटि के स्वेद-कण को पोंछ
स्थिर वहीं दोनों हुए कटितट लँगोटी कोंछ,
घाट का सोपान अब बसा रहा न अटूट
लगा है शैवाल पथ पर, गया ज्यों पथ छूट

अब न पहले-सा यहां पर समारोह अपार
धार लहराती जहां पर वहां आज कछार
और वह मंदिर, जहां पर नित्य ही उठ प्रात
थी सतत देवार्चना अभिवंदना की बात,

पड़ा नीरव और निर्जन द्वार भी है बन्द
सुन न पड़ता वंदिकों का एक भी अब छन्द!
अब न वह तरणी हमारी दृष्टिगोचर आज,
समय का अंधड़ उठाकर चला ले ऋण ब्याज;

और—कुछ मंदाकिनी का भी विकृत सा रूप,
अब न वह लावण्य है, वह छटा दिव्य अनूप,
निभृत निर्जन में पड़ा, संन्यस्त-सा तट प्रान्त,
अब न अच्छा लग रहा, धूसर बना एकान्त;

कूप के हैं गिर गये वी स्तूप, वह है भग्न
अब न जमघट है यहां, सब हैं कहां पर मग्न?
उमड़ आईं भावनायें, मधुर मधुर अतीत
लगा बजने वीन में, बनकर मनोरम गीत;

गीत

हैं कहां आज मधु की बहार ?
हैं कहां आज वे दिन अपने ?
जब आते थे दिन में सपने;
वे कहां रंगीले प्रहर गये ?
जो भरते थे दृग में खुमार ?
किस ओर गये वे सुधा-पात्र ?
अब तो दुर्लभ है बूंद-मात्र।
है सूनी पड़ी रंगशाला,
किसने समेट ली वह बजार ?
है निर्जन-सा सरिता का तट,
जिसमें होता व्याकुल जलघट;
निर्जन नीरव वासर आकर,
ले जाते मन का अब उतार !
कुसुमित कदंब भी बना वृद्ध,
पुष्पों से अब न रहा समृद्ध
इसका यौवन भी ढरक चला,
अब नहीं कोकिला की पुकार !
जीवन वन में था समारोह,
कितना था सबसे मधुर मोह ?
वे कहां गईं परिचित आंखें,
जिनमें बहती थीं स्नेह-धार ?
वे स्निग्ध श्याम, सुरभित अलकें,
माणिक-सी मदिरा-सी पलकें,
देकर किसने ले लिया चषक,
बन गया कृपण क्यों वह उदार ?

मेरे वैभव का इन्द्रचाप
तनता था जो बनकर अमाप,
किसने इसको कर दिया भंग,
प्रत्यंचा भी दी है उतार!
है कहां आज मधु की बहार?

शैल-खंड अखंड पर फिर हो वहीं आसीन,
लगे कहने 'कांचना है, प्रकृति-धर्म अधीन'
लता, द्रुम-पल्लव कुसुम, कृमि, कीट कोटि पतंग,
क्या लड़ेंगे क्षीण दुर्बल ये समय के संग!

सह सके जो नग्न तन पर, शीत-वर्षा घाम,
खड़ा अविचल एक पद पर, धीर शांत प्रकाम,
वंदनीय प्रशस्त है, उसका अमिट अस्तित्व,
हो कठिन पाषाण-सा जिसका सुदृढ़ व्यक्तित्व!

लिये कंथा स्कंध पर, औ' दूसरे कर वीन,
कांचना झोली लिये औ' कुछ उपलियां दीन,
चल पड़े दोनों पथिक पथ पर पुनः अश्रान्त,
छोर ही जिसका न जाना वे चले उस प्रान्त!

इधर पाटलिपुत्र में थे वृद्ध बने अशोक,
किन्तु, शासन था व्यवस्थित, सुखी प्रमुदित लोक,
घुल चुका था स्मृति-पटल से पुत्र का प्रिय चित्र,
कांचना की रेख कंचन भी अदृष्ट पवित्र!

लोक-सेवा का निरन्तर बढ़ रहा अनुराग,
वृद्ध नृप के हृदय में था जग चुका वैराग!
हो चुकी थी विभव वैभव से असीम विरक्ति
कामना थी मुखर लें काषाय तब हो तृप्ति!

पुनर्मिलन

आज मधु-ऋतु का मनोरम,
प्रथम प्रथम प्रभात,
लिये अभिनव गंध, मधु,
सौरभ लता तृण-पात;

हो चला था शिथिल कुछ-कुछ,
मलय मधु के भार,
और कलिका में अभी,
कुछ कुछ सुरस संचार।

दूर्वादल में अभी,
कुछ कुछ हरा संभार,
और कुछ कुछ लगा होने,
विपिन का शृंगार।

कोकिला भी कूक देती
एक ही दो बोल,
एक ही दो घूंट भरती,
सुरस के अनमोल!

झर रहे कुछ पत्र तरु के
कुछ अभी संलग्न,
यह पुरातन और नूतन
का प्रसंग प्रसन्न,

इन नवलदल का विमोहक
और ही कुछ वर्ण
लग्न कुछ-कुछ रजत लोहित,
और कुछ ज्यों स्वर्ण!

सांध्य-अंबर-से अरुण,
कुछ, लाक्षा से लाल,
नील, पीत, विशुभ्र कुछ,
कुछ, श्याम ज्यों घन-माल;

कुछ बने काषाय, कुछ भूरे,
हरित छवि धाम
कुछ अभी नवजात खग
के पंख-से अभिराम।

और सरसी में लगा,
खिलने मुकुल जलजात,
स्वच्छ दिखलाने लगे,
वन-विपिन तरु के पात;

हरसिंगार खिला, खिली
शेफालिका, कचनार,
स्वप्न पलकों से सिमिट
जाने लगे उस पार,

एक वर्ण, द्विवर्ण और
त्रयवर्ण से परिपूर्ण
पत्र कुछ कुछ इन्द्रधनु-से,
सप्तरंग संपूर्ण !

शीत कुछ कुछ, ग्रीष्म कुछ,
युग का समन्वय मंद
अंग को था स्पर्श देता
मलय भर मकरंद !

रात्रि के बुझने लगे जब
मंद शीतल दीप,
दिग्वधू जाने लगी छिप,
अंतरिक्ष समीप;

प्रात के पिछले प्रहर की
मूकता को चीर,
आज कैसी रागिनी यह
बज उठी गंभीर ?

गंधवाह चला लिये जब
प्रात प्राण - प्रवाह,
और भी होकर विमोहन,
हुआ स्वर - प्रस्तार,

लगे पीने तृषित-कंठ
अमृत-प्रवाह अशोक,
हुए विस्मृति में निमग्न,
समाधिलय, गतशोक !

तान में कैसा भरा था ?
विकल-सा आह्वान !
स्वयं आकर्षित, निमंत्रित,
तृप्त होते प्राण !

मूर्च्छना में थी छिपी
कोई कसकती, आह
तड़प उठता था हृदय सुन,
विकल बनती चाह !

एक अन्तर्वेदना-सी
कसकती अनजान
दूर हो कोई निकट ज्यों
कर रहा आह्वान ?

एक मूक रहस्य का
होता करुण-विस्तार
सिन्धु की लहरें बुलातीं
सिन्धु के उस पार।

गूंजती उर में निरन्तर
एक करुण-पुकार
घन अनादि अनन्त टकराती
इधर सौ बार;

गा रहे थे अतिथि-गृह में
ये प्रभाती तान,
और कोई नहीं, ये वे
दो पथिक अनजान;

जो कि पाटलिपुत्र में टिक
रात, होते प्रात,
बढ़ रहे थे आज आगे,
युगल, पथ अज्ञात!

राजमंदिर से हुआ
इनका अचिर आह्वान,
पहुँच चर ने कहा—आज्ञा
का करें सम्मान!

कांचना आगे चली
कर लिये भिक्षा-पात्र,
और पीछे चले भिक्षु
कुणाल जर्जर-गात्र;

बँधे जिसके दो सिरों में
वस्त्रखंड मलीन,
और सूखे अश्रु जिसके
काष्ठ में प्राचीन,

भिक्षुकों के दूसरी
प्रतिबिंब-सी अम्लान,
एकतारा बीन कर में
जीर्ण-शीर्ण महान;

कठिन रेखायें छिपाये
विगत आंसू-हास,
लिखा आनन में निठुर
निर्वास का इतिहास,

नेत्र क्या थे ? अंधकूप,
उपत्यका के गर्त,
कुछ न पढ़ सकते जहां,
इस विश्व के आवर्त,

लिये लकुटी हाथ में,
पथ टोहते, पग नाप,
चले भिक्षु कुणाल कुछ
मन गुनगुनाते आप;

राजमंदिर में गये
लाये युगल सनमान
कहा नृप ने 'आइए हे
मगध के मेहमान !'

'देव जय हो' कह चरण
तल पर हुए प्रणिपात,
किया दोनों भिक्षुकों ने
नमन हो नतमाथ;

'कहां पर तुमने किया
संगीत का अभ्यास ?
कौन गुरु गायक तुम्हारे,
रहे जिनके पास !'

'आर्य जय हो !' जानता
कुछ भी नहीं मैं राग,
मांग खा लेता किसी विधि,
बुझा बड़वाआग;

विनयशील नितांत हो तुम,
राज्यावधि से विज्ञ
'नामधेय गुणी तुम्हारा
जानते क्या विज्ञ ?'

'नाम क्या ? औ' धाम क्या
पथ के पथिक हम दीन,
हम अनाम अधाम हैं अब,
पूर्व - परिचयहीन;

'सत्य है भिक्षुक पथिक हो,
किन्तु, इससे पूर्व,
कौन थे तुम, पुत्र किसके,
कहो वृत्त अपूर्व।

इधर रह रह कर हृदय में
नृपति के अनजान,
बोध होता था कि इनसे
हो कभी पहचान;

आ रही थी कभी रह रह
प्राण में यह बात,
कभी देखा हो इन्हें
ये आत्मज - से ज्ञात;

ढूंढ़ते थे अतल में
कोई अनूपम रत्न,
ग्रंथि खुलती थी नहीं
थे व्यर्थ होवे यत्न !

तीव्रतम वे दृष्टि अपनी,
उन्हें पुनः विलोक
लगे उत्तर परखने,
अपलक अधीर अशोक

'महाराज ! खड़ा चरणतल
नर बना कंकाल,
मांगता जो भीख गृह-गृह,
आज बन कंगाल !'

भाग्य का वह व्यंग है,
वह दुःख का इतिहास,
क्या करेंगे जानकर,
उसका निठुर निर्वास !

मगधपति, श्री मौर्यकुलभूषण,
भुवन आलोक
पुत्र यह उनका कि
जिनका नाम 'नृपति अशोक !'

गिरी विद्युत-सी सभा में
सब अचेतन मौन,
जड़ित, चकित, थकित,
अचल थे, बना स्तंभित भौन !'

चेतना-सी खो गई
यों हर्ष-व्याकुल प्राण,
हो गये मूर्च्छित वहीं
पल भर अशोक महान!

जब हुए प्रकृतिस्थ,
संभ्रम बढ़े नत अशोक,
उर लगाकर पुत्र को,
वे हो गये गतशोक;

मगधपति के अंक में
सुत हो गया यों लीन
नीड़ पा जैसे श्रमित
खग हो सुखी स्वाधीन;

कांचना थी दूर,
विगलित लाज से भूचीर
चाहती थी मुख छिपा ले,
थी व्यथा गंभीर;

कहा नृपवर ने न हो
संकोच से अब दूर,
'राजरानी! दूर रह तुम
बनो मत अब क्रूर!'

कर सके इस मधु मिलन को
शब्द में जो बंद,
वह न कवि जन्मा अभी तक,
वह न अब तक छंद!

क्षमादान

जब खुला सब भेद, उर में
बढ़ा अति अवसाद।
हुए क्रुद्ध अशोक इतने
हुआ एक प्रमाद,

अधर कंपित, नेत्र लोहित,
भृकुटि वंकिम रंग,
अट्टहास किया भयानक,
देख विधि का व्यंग।

'है कहां कुलघातिनी।
कुलनाशिनी वह पाप?
मौर्यकुल के कीर्तिकेतन
की अमित अभिशाप?

दी अरे जीवंत दंपति
को अनंत समाधि,
मेट दी कुल से युगों की
ख्याति की चिरव्याधि !'

स्वयं ही विधि की विधात्री
बनी विधि को मेट
राजकुल भिक्षाचरण से
लगा भरने पेट !

आज होगी युगों की
ज्वालामुखी यह शान्त,
है कहां यमदूतिनी ! वह
काल व्याल कृतान्त !

कहां लाक्षागृह सजाने
चली जो निर्धूम ?
क्षार करने मौन ही
जलती चिता में झूम,

कहां लाक्षागृह-विधात्री !
कूटनी पैशाच ?
राक्षसी ! अप्सरा बनी
करती रही रसनाच !

धूमकेतु, अशनि, कहां
वह राहुकुल अंगार ?
लिये विष के अधर
मेरी पूतना अनजान !

अधर में मधु ले,
हृदय में कालकूट कठोर,
कूटिनी थी महारानी !
भाग्यहत हा घोर !

त्रस्त जिसके भ्रकुटि से
हों अंग, बंग, कलिंग,
भस्म करने चली उसको
एक आज स्फुलिंग,

आ ! मुकुटमणि ! शीश
धर दूं, राज्यदंडोत्सर्ग,
राज्य कर संहारिणी,
तू भस्म कर दे स्वर्ग !

आज ही सम्राट् के
उर पर पड़ा आघात !
वह पराजित, पददलित,
है पतित, प्रणिपात !

तोड़ दूंगा किंतु तेरा
भी जटिल छल दंभ,
आज अंतिम सर्ग का
होगा मधुर विष्कंभ !

ले कमललोचन, लिये
थे हाथ में नवजात
बुझा ले तृष्णा हृदय की
सुधा से हो स्नात,

कामुकी ! पशुवृत्तिके !
चंडालिनी ! कूटज्ञ !
खोल दीं आंखें अभी तक
मैं बना था अज्ञ !

आज अपनी नग्न असि
का करूँगा शृंगार
शान्त युग से, पुनः उमड़े
आज शोणित धार !

बने अकलंकित कलंकित
का कलेवर वीर,
स्नान शोणित में करे
रणनर्तकी गंभीर !

शांत हो तव हृदय का
यह रोष,—उल्कापिंड
सुखी ग्रहमंडल बने,
शीतल सकल ब्रह्मांड !

चल .इधर पूर्णाहुती !
रणयज्ञ की बलिदान !
हूं किधर प्रच्छन्न तू
ओ गुप्तचर की तान !

करूँगा विच्छेद सर्वांग
अंग औ' प्रत्यंग,
तृप्त प्रतिहिंसा तभी
होगी प्रशांत सुदंग !

मूर्च्छिता, पतिता, च्युता,
हतचेतना मृतप्राण !
गिरी सम्राज्ञी धरा पर
'प्राण' हा हा! 'नाथ'

कांपता निस्तब्ध, क्षुब्ध
चली व्यथित उस ओर
वदन फेनिल, नेत्र धूमिल,
था न दुख का छोर!

सभासद; मंत्री, सभी थे,
राजमंदिर मौन,
हिम गिरा इतना सभी जब,
बोलता फिर कौन?

हो रहे थे रोषदीप्त
कठोर क्रूर अशोक
इधर राजकुमार, अपने
सके भाव न रोक!

'महाराज! सुनें इधर,
कुछ तो कहूं मैं आर्य!
एक भिक्षा आज दें,
निज पुत्र भिक्षु विचार्य!'

हुए शांत प्रशांत नृपवर,
कहा 'तुम्हें कुणाल,
क्या अदेय रहा? सभी
कुछ तो तुम्हारा लाल।'

'पुत्र के हित राजमाता
को मिले यह दंड,
कौन होगा और इससे
पाप अधिक प्रचंड !

महाराज ! प्रथम हमारा
शीश कर लो छिन्न,
फिर, जननि का शीश होगा
कंठ से विच्छिन्न !

'या–विनीत भिखारियों को
आज दो यह दान,
राजमाता को करो, या
आज क्षमा-प्रदान !'

गई टकरा रोष की
लहर कठिन तट प्रान्त,
लौट आई उच्छ्वसित
फेनिल गंभीर प्रशान्त !

बड़े व्यथित अशोक
थकित जड़ित चुपचाप,
कहा, 'वत्स कुणाल तुमने
ले लिया अभिशाप !

हां यही इच्छा तुम्हारी
तो रहे न अपूर्ण,
हो तुम्हें सन्तोष
जिससे हो वही संपूर्ण

दुर्दिनों के मेघ से
था घिरा मौर्याकाश,
एक कुल-नक्षत्र से
छाया अनंत प्रकाश!

हो गईं अगणित आंखें बन्द,
सह न वे सकीं अतुल आनंद।
'जयति युवराज कुणाल महान्!'
गूंजते थे अंबर में छन्द!

दिखाई पड़ा अलौकिक दृश्य,
वहीं, लख सब हो गये विमुग्ध,
लौट आई आंखों में ज्योति,
देखते थे कुणाल अब मुग्ध!

हर्ष की उमड़ी और हिलोर,
हुई जनता सुख में तल्लीन,
कांचना पुलकित चकित असीम,
आज, सब विधि वह बनी अदीन।

हुआ वितरित मणियों का दान,
आज था हुआ लोक-कल्याण,
देख तपसी के तप को पूर्ण,
हुए जैसे प्रसन्न भगवान्!

राज्याभिषेक

आज है जन जन में उत्साह,
हर्ष की मिलती कहीं न थाह,
सभी जनता उत्सव में लीन,
आज बहता आनंद-प्रवाह!

आज उमड़ी आती है भीर,
उड़ रही केसर कनक अबीर,
सजे हैं मंगल-घट गृहद्वार,
आज आंखें हो रहीं अधीर!

जगा है पाटलि का सौभाग्य,
तिरोहित हुए आज सब पाप,
मौर्यकुल नभमण्डल में दीप्त,
बालरवि से कुणाल हैं आप!

आज मणि-माणिक की रच चौक,
कर रहे पूजन विविध प्रकार,
वेदध्वनि करते वैदिकवृन्द,
ऋचायें छूतीं गगन अपार!

आ गये तक्षशिला के लोग,
निमंत्रण पाकर, मुदित अपार,
मिलेंगे इनको बिछुड़े नाथ,
उन्हें परिजन, पुरजन, परिवार

आज लौटा उनका चैतन्य,
विदा में जो थे बने अचेत,
देखने को कुणालमुख चंद्र,
बढ़ा जनगण जलनिधि समवेत।

आज लज्जा विगलित हो मौन,
घूमती सम्राज्ञी लाचार,
अधर में कभी नाचती हँसी,
नयन में कभी अश्रु दो-चार!

चेदि, कुरु, वृजि, कलिंग, पांचाल,
राष्ट्र, जन पद, अगणित साभार,
आज सुन राज्यतिलक का पर्व,
हर्ष से लाये निज उपहार!

आज अविकल दरिद्रता दूर,
कांचना बन लक्ष्मी की मूर्त्ति,
मगध के सूने मंदिर बीच,
चली करने अभाव की पूर्त्ति !

आज कहते कुणाल, 'क्यों प्रिये !
धर्म का मर्म हुआ कुछ ज्ञात ?'
कहा था 'आता स्वर्ण प्रभात,
जहां भी हुई अँधेरी रात !'

'मिट गये अब तो मन के शूल
नहीं की हमने कोई भूल'
आज, जितने भी थे प्रतिकूल,
हुए प्रभु करुणा से अनुकूल !

"देव ! सच था मेरा अपराध,
सकी मैं संयम अधिक न साध,
आपका निर्मल सदा विवेक,
न अपना पाई उसका आध !'

आ गये हर्षित वहीं अशोक,
लगे कहने यह उनको रोक,
न मंगल का मुहूर्त टल जाय,
कहां तुम ? हम सब रहे विलोक ?

कांचना हो लज्जा से लाल,
प्रणत चरणों में विनत कुणाल,
राजमन्दिर में जायें देव,
कहा, 'हम आते हैं तत्काल !'

राजमन्दिर था सजा अपार,
न वैभव का मिलता था छोर,
मौर्यलक्ष्मी ही हो साकार
आ गई जैसे गृह की ओर!

विजय के रत्नहार, केयूर,
मुकुटमणि, कुंडल, कंकण लोल,
पहनकर मागध आज सगर्व,
रहे थे राजभवन में डोल!

आज कारागृह के सब द्वार,
कर दिये नृपवर ने उन्मुक्त,
हर्ष मंगल उत्सव के बीच,
न जिससे हो कोई भी त्यक्त!

राजमन्दिर में सबके बीच
उठे हर्षित अशोक भूपाल,
लिये निज कर में स्वर्ण किरीट,
कि पहनावें कुणाल के भाल!

और सम्राज्ञी तिष्य प्रसन्न,
हुई वाणी जड़, मुख से मूक,
मूर्ति-सी खड़ी अचल, निर्वाक,
हो रहे प्राण आज सौ टूक!

क्षमा मांगूं कैसे मैं आज?
किया मैंने हा, कितना पाप?
देवदुर्लभ सुत को पा गोद,
दिया था मैंने इनको शाप!

क्यों न यह धरा हुई सौ खंड,
उसी में धँस होती मैं चूर्ण,
आह! विधि ने मेरे ही व्याज,
कौन सी इच्छा की निज पूर्ण!'

बढ़ी जब तिष्य लगाने अंक,
झुके पदतल कांचना कुणाल,
बह उठी नयनों से जलधार,
न रानी निज को सकी सँभाल!

कहा चिरजीवो देवी देव!
क्षमा दो मुझ पापिन को आज,
नयन से उमड़ा करुण प्रवाह,
कि डूबा विह्वल सकल समाज!

'न जननी इसमें था कुछ दोष,
इसी विधि था विधि को संतोष,
न होता तप मेरा यों पूर्ण
न भरता मुझ से इतना कोष?'

शाप में छिपा हुआ वरदान,
यही प्रभु का रहस्य है गूढ़,
रात में बैठा छिपा प्रभात
समझ पाते कब उसको मूढ़?

मिला जो गौरव मुझको आज,
तुम्हारा ही वह चरणप्रसाद,
न लघुजन पाते कोई कीर्ति,
बिना गुरुजन के आशीर्वाद!

तुम्हारा शाप बना वरदान,
आज छाया दिशि दिशि कल्याण,
दुःख मत करो जननि तुम आज,
हर्ष से पुलकित उर उर प्राण!

हो गया राज्यतिलक संपूर्ण,
आज जन जन में क्षण क्षण हर्ष
हो रहा नृत्य, वाद्य, संगीत,
हुआ रस का उत्कर्ष प्रकर्ष!

काषायग्रहण

अभी कल राजतिलक की धूम,
उमड़ता था उत्सव उत्साह,
मौर्यकुल का जैसे हो हर्ष,
बह रहा बनकर पुण्य प्रवाह;

दुर्दिनों के युग के पश्चात्,
खिली थी शरत्चंद्रिका रम्य
मिला इतना आनन्द अपार,
हो गये बंदीगण भी क्षम्य !

किसी के उर में रहा न शोक,
सभी जैसे बन गये अशोक;
राज्य-अभिषेक, मधुर था पर्व,
हुए आनंदित सभी विलोक;

रंक के गृह में धन की राशि,
हुई एकत्रित रहा न दीन,
मिल गया उसको पारावार,
विकल थी जो पानी बिन मीन !

मरुस्थल में उग आये पद्म,
जहां मलयज लेकर आमोद,
भर गई अन्न रत्न सुखराशि,
प्राप्त कर अवनीतल की गोद !

युगों के जप, तप, व्रत के बाद,
एक दिन होता है यह प्राप्त,
जहां सुख छूता अंबर छोर,
और दुख होते सभी समाप्त !

किन्तु, यह विधि का कौन विधान,
नियति का रे यह कैसा व्यंग ?
हर्ष की बेला पल दो-चार
शोक का आता पुनः प्रसंग !

विश्व का परिवर्तन ही मूल ?
हो गई निश्चय विधि से भूल;
नहीं मानव के सुख का फूल,
नहीं बन जाता पल में धूल;

उदय होता जो पुण्य प्रभात,
वही होता दिन भर आलोक,
प्राण, सुख सुरभि, शक्ति उत्साह,
श्वास में बहता. चिंता, रोक!

किन्तु, दो क्षण ही सदा प्रभात,
दोपहर, फिर, आ जाती रात,
हर्ष के पल केवल दो-चार,
दुःख का छोर न होता ज्ञात!

न बुझने पाये गृह के दीप,
हरित अब तक थी वंदनवार,
मांगलिक गीतों की मृदु तान,
गूंज उठती थी बारंबार!

दूसरे दिवस राजप्रासाद,
हुआ जब सभासदों से पूर्ण,
विज्ञ, सामन्त, प्रधानामात्य,
कर रहे थे वैभव संपूर्ण!

राज्यसिंहासन पर आसीन,
कांचनादेवी, आर्य कुणाल,
जटित माणिक मणियों से मुकुट,
झुकाते थे नृप, पदतल भाल!

अगरु औ' धूम लहरियां चूम,
रही थी पुलक बनी-सी घूम,
सभी के आनन में आनंद,
झलकता था, आंखों में भूम।

तभी आ गये महान् अशोक
और सम्राज्ञी भी थी साथ,
आज दोनों तन पर काषाय,
झुके थे दोनों ही के माथ!

देख तन पर गैरिक परिधान,
किसी को हुआ न कुछ भी ज्ञान,
भोग के समय योग का ग्रहण,
आज समय कैसा आह्वान?

'सभासद! मंत्री! सभ्य! विशिष्ट,
सुदृढ़ स्वर बोले वीर अशोक,
आज मेरा आनंद असीम,
नृपति, जनता-आनंद विलोक;

हो गये सभी मनोरथ पूर्ण,
रही है साध न कोई शेष,
उचित अब यही करें सब त्याग,
देह पर हो काषाय विशेष!

सभी जनता का नव उत्साह
बन गया क्षण भर को उच्छ्वास,
हृदय में हुआ एक आघात,
हो गई सबकी कान्ति उदास;

लगे कहने अशोक गंभीर
प्रतीक्षा में मैं था दिनरात,
किसी को दे उत्तरदायित्व,
चलूं मैं वनपथ में अज्ञात;

युगों में आया वह संयोग,
सका जब मैं यह भार उतार,
और पाकर कुणाल सम्राट्
आप भी सब हैं सुखी अपार;

आज्ञा दें सब मुझको आज,
ग्रहण मैं करूँ आज संन्यास
देह पर हो गैरिक काषाय,
प्राण में आत्म बोध-विन्यास!

युद्ध कर, जनपद अगणित जीत,
गया हो फिर मन जैसे हार,
विभव-वैभव में कहीं न तृप्ति,
तृप्ति है जहां आत्म-उद्धार!

न जाने कितने मैंने पाप,
न जाने कितने छल औ' छद्म,
किये होंगे मैंने अनजान,
पूर्ण करने को पाटलिसद्म;

आज वृश्चिक दंशन से वही,
रहे जैसे प्राणों को छेद,
मानवों का महान संहार,
बन रहा अंतरतम में खेद;

आप सब क्षमा करें अपराध,
हो गई जो भी हमसे भूल,
जानकर जन सेवक ही मात्र,
पर रहें नव नृप सब अनुकूल!'

सभी की वाणी में था मौन,
न कोई भी स्वर उठा अजान,
आंख की भी भाषा थी मूक,
किन्तु उद्वेलित अंतर—आकुल प्राण!

सभी के मुख पर था अवसाद,
सभी के मुख पर एक अभाव,
किन्तु जाने क्या पड़ा प्रभाव,
न कोई व्यक्त कर सका भाव;

'आप यह क्या करते हैं देव!
आप यह क्या करते हैं आर्य!
आप जायें न कहीं भी नाथ,
अभी यह तो हैं प्रश्न विचार्य?'

गया अगणित कंठों में गूंज;
एक ही प्रश्न एक ही भाव,
आप जायें न कहीं भी देव,
आपका हो यह पुण्य-प्रभाव!

यही निर्णय है अंतिम बार,
न कोई भी हठ होगा पूर्ण!
देख मगधेश्वर का संकल्प,
सभी की थी उत्सुकता चूर्ण!

झुके नृप साश्रु महान् अशोक,
झुकी सम्राज्ञी तिष्य अधीर,
गये जन शोक-सिंधु में डूब
बहा अविरल आंखों से नीर!

खड़ी जड़, बन पत्थर की मूर्ति,
तिष्य सम्राज्ञी, आर्त अपार!
'क्षमा!' भर कह पाई, आकंठ,
उमड़ आया मानस का ज्वार!'

किसी में रहा न साहस शक्ति,
देखकर निश्चित दृढ़ संकल्प,
बीतते थे ये पल दो-चार,
व्यथा के ज्यों मन्वंतर कल्प!

लगे करने अशोक प्रस्थान,
उठ खड़े हुए सभी चुपचाप,
त्याग सिंहासन, बढ़े कुणाल,
बने आग्रह की प्रतिमा आप;

किन्तु, कुछ वे भी सके न बोल,
कर रहे थे दृग, उधर, निषेध,
आज था अचल आत्मसंकल्प,
गया जो सब प्राणों को भेद!

बढ़े आगे अशोक सम्राट्
आज धरकर भिक्षुक का वेश,
अतुल थी मुखमंडल पर शान्ति
कहीं चिंता की रही न रेख!

त्याग से बन तपतेज-निधान,
कर रहे हैं अशोक प्रस्थान,
सभी के श्रद्धा से नत माथ,
सभी के शांत, अचंचल प्राण!

सभी बन शिल्पकला की मूर्ति,
कर रहे नीरवता की पूर्ति,
न कोई जैसे हो सप्राण,
गई सबकी चेतना स्फूर्ति !

भरा था आंखों में बस नीर,
कंठ थे बने सभी के मूक,
न हिलते अधर, बने थे अचल,
उठ रही थी अंतर में हूक !

कर रहे थे ज्यों प्रतिपद पार,
द्वार, आंगन, प्रकोष्ठ, प्रासाद,
बढ़ रहा था करुणा का वेग,
हुए कुछ मूर्च्छित, सुखद विषाद !

गये प्रतिपद पर लिख आख्यान,
लिखे हैं जिनमें आंसू, हास,
अमिट वे चरण-चिह्न हैं आज,
छिपाये आर्यों का इतिहास !

गूंजता था बाहर संगीत,
प्राण मन जिससे बने पुनीत,
लगे नव मधु करने सब पान,
बज रहा था वीणा पर गीत !

गीत

'करुणा की वर्षा हो अविरल!'

संतापित प्राणों के ऊपर,
लहरे प्रतिपल शीतल अंचल।

मलयानिल लाये नव मरंद!
जिससे मुरझाये सुमनवृन्द,
सरसिज में मधु हो, मधुकर के,
मानस में मादक प्रीति तरल।

कोकिल की सुन कातर पुकार!
आवे वसंत ले मधुर भार,
कानन की सूखी डालों में,
फूटें नवदल कोमल कोमल।

काली रजनी का उठे छोर,
लेकर प्रकाश नव हँसे भोर,
अवनी के आंगन में ऊषा,
बरसावे मंगल कुंकुम जल!

'करुणा की वर्षा हो अविरल!'

पाठ-सहायक

पाटलिपुत्र

पाटलिपुत्र को आजकल 'पटना' कहते हैं। यह बिहार की राजधानी है। प्राचीन काल में यह चन्द्रगुप्त, अशोक आदि की राजधानी थी। यह नगर गंगा और सोन नदियों के संगम पर बसा है और अत्यन्त प्राचीन है।

पृष्ठ १—अविराम=लगातार

मौर्यकेतु=मौर्यवंश की पताका

उत्तुंग=ऊँचे

प्राचीर=चहारदीवारी

पृष्ठ २—समृद्धि=वैभव

आलोक=प्रकाश

तूली=कूंची (चित्र रँगने की)

कलानिकेतन=कलामन्दिर (Art gallery)

पृष्ठ ३—मधुऋतु=वसन्त

पोत=जहाज

अर्गला=अड़कन (किवाड़ों के पीछे लगाया जानेवाला बांस लोहा)

पौरसभा=पुरवासियों की सभा

तक्षशिला=प्राचीन काल में यहां एक बहुत बड़ा विश्वविद्यालय था। यह नगर भूमि खोदकर निकाला गया है।

सारनाथ= यह बनारस के समीप एक स्थान है। यहां ही भगवान् बुद्ध ने अपना पहला उपदेश दिया था। आज भी बौद्धकालीन मूर्तियां मिलती हैं। बौद्धों का एक विद्यालय भी है।

पृष्ठ ४—कांत= सुन्दर.

संगोपन=गुप्त

उद्दाम=उग्र. निरंकुश

पृष्ठ ५—उद्‌भ्रांत=मतवाला

निभृत=गुप्त

निलय=घर

गांडीव=धनुष (यह नाम अर्जुन के धनुष का था।

अक्षौहिणी= बड़ी भारी सेना जिसमें २१,८७० रथ, उतने ही हाथी, ६५,६१० घोड़े और १,०९,३५० पैदल सिपाही हों।

पृष्ठ ६—उल्का=लूक, टूटे हुए तारे

परिशोध=पूरी सफाई, निर्णय

पृष्ठ ७—संयत=गंभीर

पृष्ठ ८—अद्वैत=एक ईश्वर, एकाग्रचित्त

द्वैत=माया और ईश्वर, दुविधामय, अज्ञानमय

प्रवचन=व्याख्यान

पृष्ठ ९—भवकूल=संसार के तट पर

सप्तसिंधु=सातों महासागर

समन्वय=मेल

शतदल=कमल

पृष्ठ १०—कुणाल=यह अशोक का पुत्र था। यह अत्यन्त सुन्दर और प्रतिभाशाली था। तिष्यरक्षिता इसकी विमाता (Step mother) थी। वह कुणाल के सौन्दर्य पर मुग्ध हो गई और इसे अनुचित प्रेम से देखने लगी। कुणाल अपनी विमाता के साथ माता के सदृश व्यवहार करना चाहता था। इससे रानी रुष्ट हुई और षड्यंत्र रचकर

कुणाल की आंखें फोड़वा दिया। किंतु कुछ समय बीतने पर रानी की दुष्टता का पता चला। अशोक ने पश्चात्ताप किया और कुणाल को राज्य दिया।

स्निग्ध=हरे-भरे

दारुण=कठिन

पृष्ठ ११—अरुणिम= कुछ कुछ लाल

अन्तःसलिला=जलपूर्ण

पृष्ठ १२—ज्वार=समुद्र का पानी जब बढ़ता है तब उसे ज्वार कहते हैं।

नवल किसलय=कोमल तथा नवीन पत्ते

पृष्ठ १३—माया से...साकार अखंड=जिस प्रकार अखंडब्रह्म साकार होकर माया से मिलने आया हो। कुणाल की उपमा ब्रह्म से और माता की उपमा माया से दी गई है।

उत्पीड़न=दुःख

कुड्मल=कली

पृष्ठ १४—लोरी=वे गाने हैं जो मातायें बच्चों को सुलाते समय, गाती है। (Nursary songs)

ढिठौना=काजल का टीका जो बच्चों के मस्तक में लगा दिया जाता है ताकि उन्हें नजर न लगे।

पृष्ठ १५—कुञ्चित=घुंघराले

तारुण्य

पृष्ठ १६—तारुण्य=जवानी

आरुण्य=लालिमा

पृष्ठ १७—अविकल=सुन्दर

मेघमन्द्र=मेघसम गम्भीर

पारदर्शी-से=पारदर्शी शीशे की तरह स्वच्छ (Crystalclear)

पृष्ठ १८—आत्मविस्मृति=मुग्धता, मस्ती
उत्तरीय=दुपट्टा
प्रकृति=स्वाभाविक

पृष्ठ १९—उत्संग=गोद
मुग्ध=मस्त
मधु=मीठा

पृष्ठ २०—उद्दाम=उग्र
सुयाम=आठों याम
निष्णात=निपुण
अवदात=स्वच्छ

पृष्ठ २१—समय-विहंग=समयरूपी पक्षी
वितरती-सी=बांटती-सी

अशोक

पृष्ठ २२—अशोक=कुणाल के पिता तथा मगध के तत्कालीन राजा थे इनका नाम 'प्रियदर्शी' भी था। कलिंग देश पर विजय प्राप्त करने के बाद ये बौद्ध हो गये थे। बौद्ध-धर्म का इन्होंने अनेक प्रकार से प्रचार किया। तिष्यरक्षिता के षड़यन्त्र को न समझ सके और अपने प्रिय पुत्र कुणाल की आंखें निकलवाकर उसे घर से निकाल दिया था। अन्त में इन्हें इस पर पश्चात्ताप करना पड़ा और कुणाल को राज्य देना पड़ा।
आवरण=ढकना
स्तर=तह

पृष्ठ २३—व्याल=सर्प
माधवी=वसन्ती
सृष्टि=रचना

पृष्ठ २४—प्रतिबन्ध=जोड़

आपाद=पैर तक (सिर से पैर तक)

चूड़ान्त=शिखा तक, चुटिया तक

विद्रूर्य=नील मणि, वैदूर्य मणि

तूर्य=भेरी

लासमय=नृत्यमय

पृष्ठ २५—श्रृंगीरव=सींग का शब्द श्रृंगीनाद

घर्घरिका=घण्टी

पृष्ठ २६—मराल=हंस

प्लावित=बढ़ा हुआ

संकुल=समूह

पृष्ठ २७—कूटपदी=दृष्टिकूट

आखंडल=इन्द्र

अनुरंजन=अंगराग आदि श्रृंगार की वस्तुएँ

अभिनेता=नाटक के पात्र

पृष्ठ २८—वातायन=खिड़कियां

उदात्त=बड़े वीर

संभ्रान्त=आदरणीय

पृष्ठ २९—कुसुमायुध=कामदेव

स्वप्निल=अत्यन्त सुन्दर

मूर्च्छना=वियोग की अन्तिम दशा

गवाक्ष=झरोखे

युगाक्ष=प्राणी वर्ग

पृष्ठ ३०—चक्षुराग=दृष्टि-प्रेम

छद्म=कपट

मथित=विचलित

प्राणोद्वेलित=चित्त अत्यन्त विभ्रम में पड़ा हुआ

विजन=पंखा

कवरी=केशबन्धन

तिष्यरक्षिता

पृष्ठ ३१—तिष्यरक्षिता=यह अशोक की दूसरी रानी और कुणाल की विमाता थी। इसने ही कुणाल पर झूठा दोष लगाकर उसे दण्ड दिलवाया था। वह बहुत ही खोटी थी।

अरुणोदय=प्रभात

वासना=कामवासना

अभिनव=नया

पृष्ठ ३२—संपुटित=बन्द

संबल=यात्रा के समय की खुराक, पाथेय।

वक्षस्थल=छाती

पृष्ठ ३३—बहक रहा=चञ्चल हो रहा

प्रगति=तेजी

शतदल=कमल

रजनीगन्धा=एक प्रकार का फूल है

पृष्ठ ३४—कालिंदी=यमुना

रागरंजिता=प्रेम में रँगी हुई

प्रणय-निवेदन

पृष्ठ ३५—निरुपमा=अनुपमेय

नीरव=शब्दहीन, मूक

पृष्ठ ३६—प्लावित=भरी हुई

आमरण=आजन्म

प्रेयसि=प्रेमिका (Beloved)

विशुभ्र=स्वच्छ

तरणी=नदी

पृष्ठ ३७—चिन्ताकुल=अत्यन्त चिन्ता में चूर

लहरी=तरंग

संकल्प-विकल्प=हिचकिचाहट

पृष्ठ ३८—कुन्तल=बाल

उच्छ्वसित=तरंगित

पृष्ठ ३९—रँगरेली=आमोद-प्रमोद

मृणाल=कमलनाल, कोमल तथा सुन्दर

संकेत=इशारा

अभिप्रेत=इच्छा

पृष्ठ ४०—नवसुरधनु=चमकीला इन्द्रधनुष

विक्षिप्त=पागल

अन्तरतम=हृदय

अस्थिर=चंचल

पृष्ठ ४१—मर्माहत=हृदय में चोट खाया हुआ

नलिनी=कमल

मान-त्राण=मानरक्षा

निदान=अंत

पृष्ठ ४२—प्रतिशोध=बदला

बड़वानल=समुद्र की आग

अम्बर=आकाश

तंत्र=उपाय

अनुताप (पश्चात्ताप)

पृष्ठ ४३—उर-अतल=छाती के भीतर

अजिर=आंगन

पृष्ठ ४४—प्रणय=प्रेम

नियति=भाग्य

संघात=चोट

व्याघात=चोट, विघ्न

कांचना=कुणाल की स्त्री

तन्मय=लीन

पृष्ठ ४५—अदृष्ट=भाग्य

हविष्य=आहुति

प्रतिशोध

पृष्ठ ४६—चेतन=चित्त

ध्वांत=अंधकार

पृष्ठ ४७—निखिल=सारी

कनककाय=सुनहला शरीर

शोध=खोज

रोध=रुकावट

कुसुमायुध=कामदेव

पृष्ठ ४८—मुखर=शब्दायमान

कातर=दीन

निलय=घर

पृष्ठ ४९—प्रक्षालन=धोना

ऋजु=सीधे

वक्र=टेढ़े

उत्सर्ग=त्याग

पृष्ठ ५०—गोपन=छिपाना

आयोजन=तैयारी

पृष्ठ ५१—परिहास=मखौल, हँसी
विगलित=गला हुआ
वरुणा=एक नदी

पृष्ठ ५२—रिक्त=खाली
निधि=खजाना

पृष्ठ ५३—उपोद्घात=प्रारंभ
विखंड=टूकटूक

पृष्ठ ५४—वंक=टेढ़ी
तिरोहित=छिपी हुई
स्खलित=ढीले

पृष्ठ ५५—चर=दूत
आत्मसात्=धारणा
विनतमाथ=नतशिर, प्रणाम करके।

चर

पृष्ठ ५६—पाश=फन्दा
चेतन=आत्मा

पृष्ठ ५७—वैतरणी=पुराणों में वर्णित एक नदी जिसे मृत्यु के बाद जीव पार करता है।
समीक्षा=निर्णय

पृष्ठ ५८—कुम्भ=घड़ा
श्रृंखला=जंजीर
जरा=बुढ़ाई
विरस=सूखा

पृष्ठ ५९—नक्षत्र=सितारा
स्नेह=प्रेम, तेल

पृष्ठ ६०—क्लान्त=उदासीन

श्रमसीकर=पसीने की बूंद

अनुशोचन=चिन्ता

पंचनद=पंजाब (पांच नदियों का देश)

दंतमुद्रा=मुहर

पृष्ठ ६१—स्वत्व=अधिकार

स्तब्ध=जड़

उपराज=युवराज

स्मित=मुस्कराहट

पृष्ठ ६२—कलुष=पापमय

लाक्षागृह=लाख का घर (पाण्डवों को नष्ट करने के लिए दुर्योधन ने गंगा के तट पर एक लाख का महल बनवाया था। किन्तु भेद खुल गया और पाण्डव बच गये।

हण्डिया तहसील में है। अब भी यहां प्रति सोमवती अमावस को मेला लगता है)।

आभार=कृतज्ञता

पृष्ठ ६३—व्यवस्थित=तैयार

अछोर=अनन्त

निर्वासन

पृष्ठ ६४—निर्वासन=देशनिकाला

पृष्ठ ६५—पाणिग्रहण=विवाह

कल्प=समूह

जलजात=कमल

पृष्ठ ६६—पद पास=चरणों के पास

पृष्ठ ६७—पंगु=लूली

पृष्ठ ६८—रज्जु=रस्सी

लेकर संन्यास=विरक्त होकर

कुचक्र=षड्यंत्र

पृष्ठ ६९—अभियान=यात्रा, चढ़ाई

मन्द्र=गंभीर

विप्लव=क्रान्ति

आह्वान=पुकार

पृष्ठ ७०—अवशेष=बाकी, शेष

अनुकंपा=दया

पृष्ठ ७१—निस्तार=बचाव

अम्लान=प्रसन्न

शिष्टता=सभ्यता

पृष्ठ ७२—प्रमाद=गलती, अवहेलना

सावित्री=एक पौराणिक कालीन सती स्त्री जिसका विवाह सत्यवान के साथ हुआ था। वह बड़ी पतिव्रता थी। इसने अपन मृतक पति को यमराज के हाथ से छुड़ा लिया।

पृष्ठ ७३—नल-दमयंती=राजा नल की स्त्री दमयंती बड़ी पतिव्रता थी। पातिव्रत के पालन में बहुत कष्ट सहकर भी अपने पति को पुनः प्राप्त किया।

प्रतिनिधि=स्थानापन्न, (सहायक)

पृष्ठ ७४—मेह=बादल, मेघ

पृष्ठ ७५—आसन्न=समीप

शक्र=इन्द्र

संसृति=संसार

पृष्ठ ७६—प्रकाम=पूर्ण
यष्टि=छड़ी

पृष्ठ ७७—अधाम=बे घर का
अकाम=अभिलाषारहित

पृष्ठ ७८—नंदित=प्रसन्न
मंगलमय=परमात्मा

पृष्ठ ७९—दिनकर=सूर्य

पृष्ठ ८०—अग=स्थावर, न चलने फिरनेवाले
जग=जगत, प्राणिमात्र, जीव-जन्तु

पृष्ठ ८१—आलोक=प्रकाश

पृष्ठ ८२—विहाग=एक प्रकार का राग है जो रात्रि में गाया जाता है।
तंद्रा=आलस्य
सोरठ=एक प्रकार का राग है
भैरवी=एक प्रकार का राग है जो प्रातःकाल गाया जाता है

पृष्ठ ८३—आसव=मदिरा

पृष्ठ ८४—उपल=पत्थर, ओले
कौंध=चमक

पृष्ठ ८५—मनोरम=सुन्दर
रश्मि=किरण

पृष्ठ ८६—लोल=चचल
भ्रूभग=कटाक्ष

पृष्ठ ८७—मीड़=सगीत में दो स्वरों की सन्धि का मध्य भाग।
अथ=प्रारभ

पृष्ठ ८८—प्रतिपद=कदम-कदम पर

पृष्ठ ८९—तिमिर=अंधेरा
निस्पंद=मुर्दा हुई

पृष्ठ ९०—कारा=बन्दी
मेधावाले=बुद्धिमान्

पृष्ठ ९१—प्रयाण=यात्रा

पृष्ठ ९२—सहचर=साथी
एकाकी=अकेला

प्रत्यागमन

पृष्ठ ९३—श्मश्रु=दाढ़ी
विकीर्ण=बिखरी हुई

पृष्ठ ९४—तुंग=ऊँचे
स्रोत=प्रवाह
जीर्ण-शीर्ण=फटे-पुराने
पाण्डुर=सफेद

पृष्ठ ९५—प्रस्तर=पत्थर
आवास=घर
संन्यस्त=त्यक्त, छोड़ा हुआ
स्तूप=स्तम्भ, खंभा

पृष्ठ ९६—रंगशाला=नाटक का मंच
चषक=प्याला

पृष्ठ ९७—अश्रान्त=बिना थके
विरक्ति=वैराग्य

पुनर्मिलन

पृष्ठ ९८—विपिन=वन

पृष्ठ ९९—संलग्न=लिपटे हुए

लाक्षा=लाख

मुकुल=कली

पृष्ठ १००—प्राण-प्रवाह=स्वच्छ वायु

पृष्ठ १०१—मूर्च्छना=एक ग्राम से दूसरे तक जाने में स्वरों का च
उतार।

अन्तर्वेदना=हृदय-वेदना

पृष्ठ १०२—अचिर=शीघ्र ही

एकतारा=एक तारवाली

पृष्ठ १०३—गर्त=गड्ढे

आवर्त=भँवर

पृष्ठ १०४—नामधेय=नाम

आत्मज=पुत्र

पृष्ठ १०५—कंकाल=अस्थिपंजर, हड्डियों का ढांचा

स्तंभित=आश्चर्यचकित

पृष्ठ १०६—नीड़=घोंसला

मधु-मिलन=सुन्दर-मिलन

पृष्ठ १०७—अवसाद=दुःख

कीर्तिकेतन=यश की पताका

पृष्ठ १०८—भिक्षाचरण=भीख मांगना

अशनि=वज्र

पृष्ठ १०९—स्फुलिंग=चिनगारी

प्रणिपात=प्रणाम

विष्कम्भ=विस्तार, नाटक का एक भेद, जिसमें गत और
अगत घटना की सूचना होती है।

पृष्ठ ११०—कूटज्ञ=कपटी

कलेवर=शरीर

प्रच्छन्न=छिपी हुई